THE BOOK WAS DRENCHED

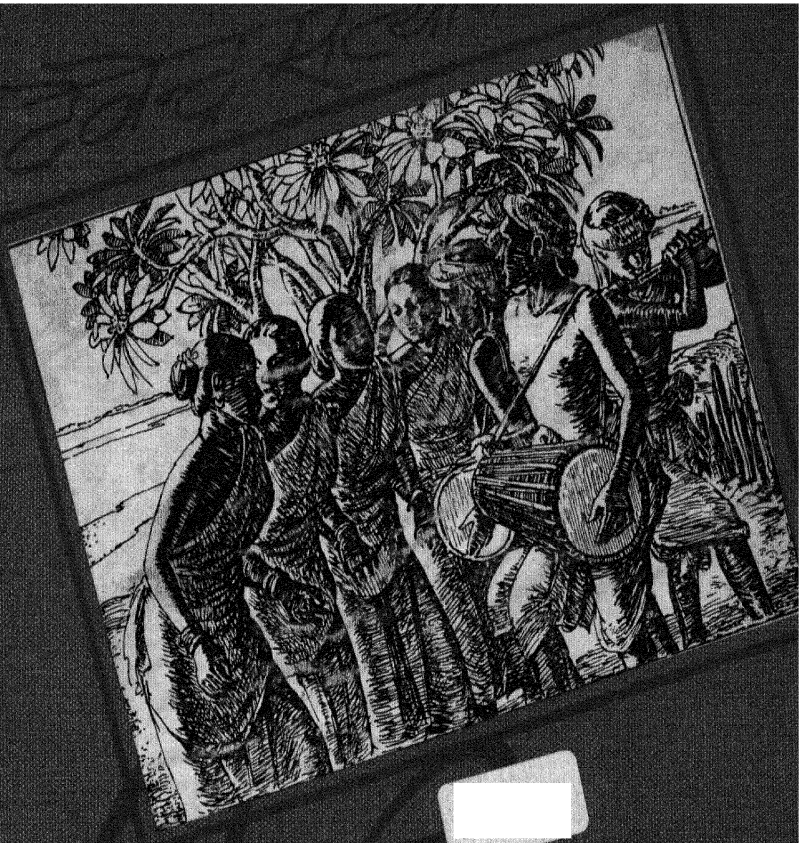

H398.8
S25D

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186205

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H398.8/S25D Accession No. G.H. 2337

Author सत्यार्थी, देवेन्द्र

Title धरती गाती है। 1948.

This book should be returned on or before the date last marked below

धरती गाती है

लेखक की अन्य रचनाएं

लोकगीत—

गिद्धा (१९३६)
दीवा बले सारी रात (१९४१)
मैं हूँ ख़ानाबदोश (१९४१)
गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६)
Meet My People (१९४६)

कविता—

धरती दीयाँ वाजाँ (१९४१)

कहानियाँ—

कुंग पोश (१९४१)
नये देवता (१९४३)
और बांसुरी बजती रही (१९४६)

प्रेस में—

The Plough and the Drum
Songs of the Indian People
धीरे बहो, गंगा !
चट्टान से पूछ लो

धरती गाती है

एक लोकगीत-अध्ययन

देवेन्द्र सत्यार्थी

महात्मा गांधी
और
रवीन्द्रनाथ ठाकुर
के आमुख सहित

मुखचित्र : श्री नन्दलाल वसु
रेखाचित्र : श्री सुशील सेन

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

Checked 1965

सर्वाधिकार सुरक्षित

पहली बार १९४८

मुद्रक : गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली।

प्रकाशक : राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, दिल्ली।

मूल्य दस रुपये

Checked 1969

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को

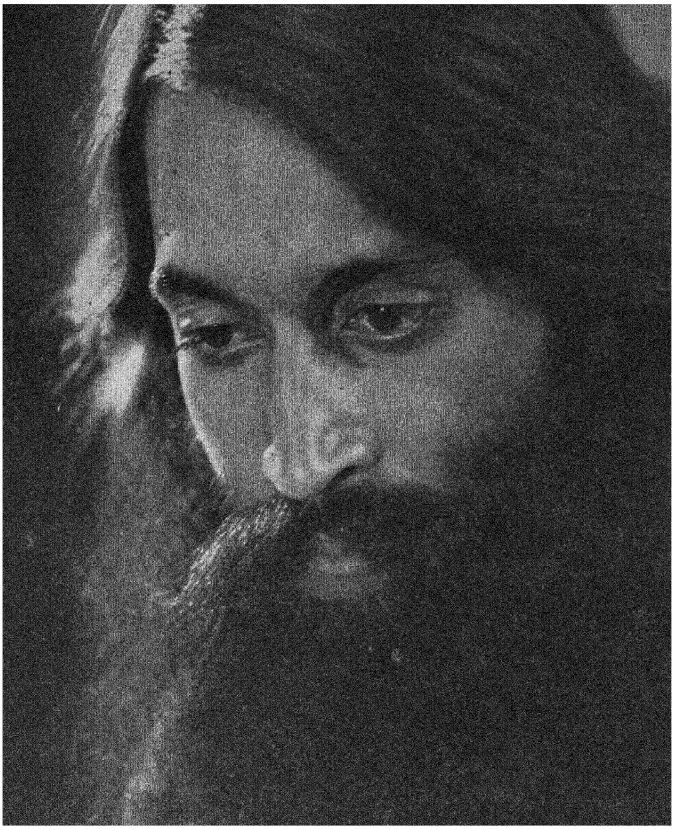

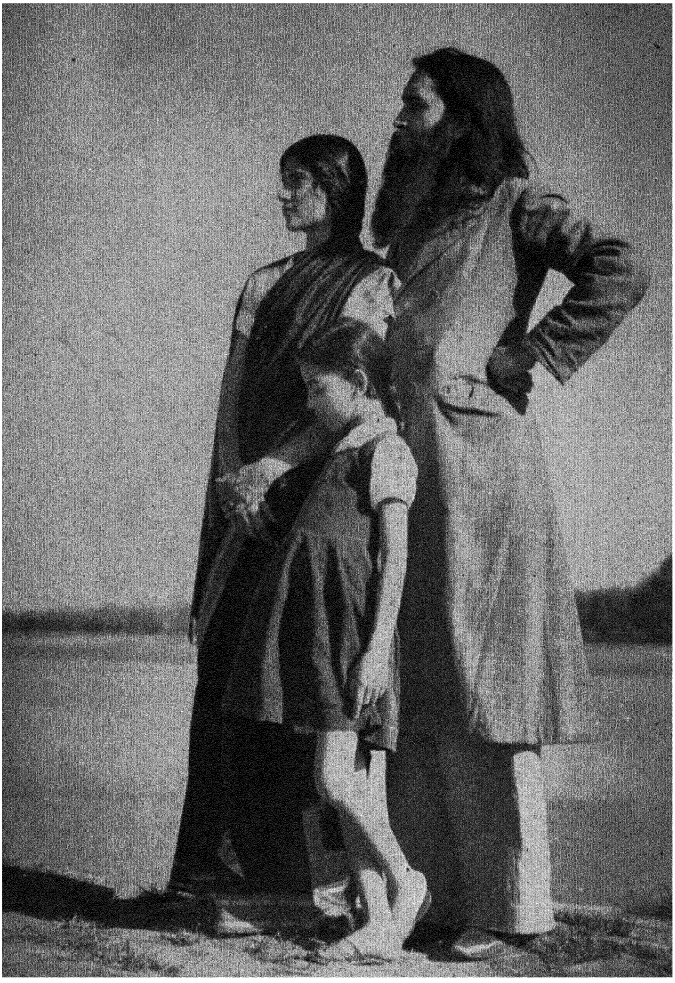

लेखक अपनी पत्नी और
पुत्री के साथ (१६४०)

सूची

	आमुख	...	१
	प्रस्तावना	...	५
१	धरती गाती है	...	६
२	दीया जले सारी रात	...	३८
३	ईरावती	...	४६
४	शान्तिनिकेतन	...	५४
५	लंका देश है कोलम्बो	...	६५
६	पृथ्वीपुत्र	...	७४
७	देसां मां देस हरियाना	...	८१
८	गुजराती लोकगीत	...	६८
६	बुन्देलखण्ड मूक नहीं	...	१०७
१०	अपनी जोरू को समझा	...	१२४
११	हिरनी की पुकार	...	१३०
१२	रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी	...	१३६
१३	नाचता गाता नेपाल	...	१४३
१४	गढ़वाल का चित्र	...	१६०
१५	भारतमाता	...	१७६
	निर्देशिका	...	१८७

आमुख

आचार्य देवेन्द्र सत्यार्थी के कंठ से कुछ लोक-कविताएं और लोकगीत सुनकर मुझे आनन्द प्राप्त हुआ। उन्होंने इन गीतोंका संग्रह भारतके सभी प्रदेशों में घूम-घूम कर किया है। यह एक बहुमूल्य कार्य है। साहित्य के अज्ञात क्षेत्र के अन्वेषण के लिए, जिसे जनता के अर्ध-चेतन मन की स्वच्छन्द रचना कहना चाहिए, सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता होती है। यह प्रत्यक्ष है कि आचार्य देवेन्द्र सत्यार्थी संवेदनशील कल्पना की योग्यता रखते हैं, जिसके द्वारा वे अपने कार्य को पूर्ण रूप से कर सके हैं, क्योंकि यह कार्य करते हुए उन्हें सदैव आनन्द अनुभव हुआ है।

लोक-मानस का रचनात्मक पक्ष रहस्योद्घाटन का इच्छुक रहता है। इसके द्वारा अपरिमेय मनोरंजन सम्भव है। यह बात हमें स्पष्टतया अनुभव कराने में आचार्य सत्यार्थी हमारे सहायक हुए। मैं उनका अगाध आभार मानता हूं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

('माडर्न रिव्यु', सितम्बर १९३४ से)

उत्तरायण
शान्तिनिकेतन, बंगाल
५ दिसम्बर, १९३५

प्रिय सत्यार्थी,

'माडर्न रिव्यु' में प्रकाशित करीब-करीब तुम्हारे सभी लेख मैं पढ़ चुका हूँ। उनकी उच्च प्रामाणिकता के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ। वे ग्रामों में बसे हुए भारत की अन्तरात्मा का दिग्दर्शन कराते हैं। संसार के अन्य प्रदेशों में उनका परिचय नितान्त वाँछनीय है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'एशिया', जो मेरा प्रिय पत्र है, तुम्हारे कुछ लेख प्रकाशित करने जा रहा है।

भवदीय
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

: २ :

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की शानदार धुन के कारण मुझे उनके अपूर्व लोकगीत संग्रह को देखने का अवसर मिला। इसके लिए वे विभिन्न प्रान्तों की यात्रा करते रहे हैं। मुझे स्मरण नहीं कि मैं कभी उनसे मिला हूँ। ये गीत जनता का साहित्य हैं। उन प्रान्तों के मध्यम श्रेणी के लोग इन गीतों से अनभिज्ञ हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे हम गुजराती अपने लोकगीतों से अनभिज्ञ हैं—सच पूछो तो लोकगीत ही जनता की भाषा हैं। सौराष्ट्र के श्री मेघाणी ने काठियावाड़ की लोकवार्त्ता का अनुसंधान किया है। इस अनुसंधान से उस खाई का पता चलता है जो हमारी भाषा और जनता की भाषा के बीचोंबीच स्थित है।

लोकवार्त्ता का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो मिटती जा रही हैं, यदि यह अब तक वस्तुतः मिट नहीं गई। जनता में जागृति आ रही है। उसने विचार से नहीं, कर्म से श्रीगणेश किया है, जैसा कि मेरे विचार में वह सदैव करती आई है। उसकी भाषा ने अभी एक निश्चित रूप धारण करना है। यह रूप कहीं-कहीं समाचार पत्रों में दिखाई दे जाता है—केवल कुछ-कुछ—पुस्तकों में बिलकुल नहीं।.....गुजराती भाषा की असंदिग्ध दरिद्रता जनता की दरिद्रता की प्रतीक है। पर वस्तुतः कोई भी भाषा दरिद्र नहीं होती। शेष भारत के समान गुजरात भी चिन्ताग्रस्त है। उसकी भाषा स्वयं एक रूप धारण कर रही है। बहुत सा कार्य प्रतीक्षा कर रहा है।.....

[श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की पुस्तक 'गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर' (१९३५) की प्रस्तावना से]

मो० क० गांधी

भाई देवेन्द्र,

तुम्हारे खत की प्रतीक्षा कर रहा था। ठिकाना मालूम नहीं होने के कारण मैं पहले नहीं लिख सका।

गढ़वालियों के ग्रामगीत मैं रस से पढ़ गया था। वैसे ही नेपाल के। मैंने इन्दौर में तुम्हारा बहुत काम कर लिया, ऐसा मेरा ख्याल है। इस बारे में एक प्रस्ताव भी था। प्रस्ताव में तो तुम्हारा और रामनरेश जी का नाम भी लिया गया था। बाद में कार्यकारिणी समिति में जो चर्चा हुई उसके परिणाम में नाम काट दिये। तुम्हारे नाम की तो दरकार नहीं है, काम की है। और वह काम जहाँ तक सम्मेलन का सम्बन्ध था, हो गया। अभी

भी जो कुछ हो सकेगा, वह मैं कर दूँगा। किसी वक्त यहाँ आ जाओगे तो आनन्द आयेगा। तुम्हारे काम को ज्यादा समझ लूँगा।

जो कुछ भी लिखो मुझे भेजते रहो।

मगनवाड़ी, वर्धा — मो० क० गांधी

२१-६-१९३५

भाई देवेन्द्र सत्यार्थी,

ग्रामगीतों के बारे में आप जो साहस कर रहे हैं, मुझे प्रिय लगता है। ईश्वर आपको सफलता प्रदान करे।

वर्धा — आपका

१-७-१९३५ — मो० क० गांधी

अच्छा तो 'धरती गाती है' की हस्तलिखित प्रति मेरे पास छोड़ जाओ। मैं इसका आमुख लिखूँ, यह तुम्हारा अनुरोध है। यह तो ऐसे ही है जैसे कोई मीठे दूध में एक मुट्ठी चीनी डालने को कहे। इसमें हमेशा स्वाद बिगड़ने का डर रहता है। फिर भी तुम कह रहे हो तो लिख दूँगा।

कहाँ-कहाँ के लोकगीत चुने हैं? सभी गीत तो एक पुस्तक में कैसे समा सकते हैं? मूल-संग्रह को सम्भाल कर तो रखते हो न?

पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख लोकगीत संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए। आने वाली पीढ़ियां कवि-हृदय रखने वाले लेखक का स्मरण करेंगी, जिसने धरती के गीत अपनी झोली में भर कर साहित्य के सम्मुख रख दिए।

'विशाल भारत', 'माडर्न रिव्यु' और 'एशिया' में मैं तुम्हारे लेख बराबर रस से पढ़ता रहा हूँ। बहुत से लेख छूट भी गए होंगे। किसी खेत की मेंड पर बैठे तुम किसी लोकगीत के चार बोल लिख रहे होगे, या किसी गाँव की कच्ची पगडण्डी पर चले जा रहे होगे—मेंह हो चाहे धूप, चाहे आँधी—ऐसी कल्पना मैंने कई बार की है।

'धरती गाती है' अच्छा नाम है। इसमें तुम्हारा कवि-हृदय बोल उठा है। सचमुच लोकगीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियां गाती हैं, फसलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएं और परम्पराएं—सभी गाती हैं।

गुरुदेव को भी तुम्हारा लोकगीत सम्बन्धी कार्य प्रिय था। आज वे होते तो मैं तुमसे कहता उन्हींके पास जाओ। पर अब यह ज़िम्मेदारी मुझ पर आ पड़ी है। सचमुच मेरे हाथ में यह पतवार ठीक नहीं चलेगी, ठीक सजेगी भी नहीं।

दिल्ली, — मो० क० गांधी

३० दिसम्बर १९४७ (लेखक से वार्तालाप करते हुए)

आमुख में लेखक की थोड़ी प्रशंसा तो रहनी ही चाहिए। क्यों यह कुछ गलत तो नहीं! यह कोई मजाक भी नहीं। पर मैं तुम्हारा आमुख लिखूंगा तो तुम्हारी प्रशंसा नहीं करूंगा। हां, लोक गीतों की प्रशंसा अवश्य करूंगा। क्योंकि मैं मानता हूं कि लोकगीत समूची संस्कृत के पहरेदार होते हैं। जैसे पहाड़ के इस पार से उस पार जाने पर नया ही दृश्य सामने आता है, एक प्रान्त से दूसरे प्रांत को जायं तो लोकगीतों में थोड़ी बहुत भिन्नता तो होगी ही। कन्या कुमारी में तीन समुद्रों का संगम देखकर मालाबार के किसी लोक-कवि ने अवश्य कुछ गाया होगा। इसी स्थान पर स्वामी विवेकानन्द ने भारतमाता को साष्टांग प्रणाम किया था। कन्याकुमारी का कोई गीत भी तुम्हें मिला? तीन समुद्रों के संगम के गीत में भारतमाता क्या कहती है, यह मैं अवश्य जानना चाहता हूँ। इस गीत में स्वतंत्रता की कोई पुकार अवश्य होगी। अब तो देश स्वतंत्र हो गया। क्या अभी देश के कानों तक कन्याकुमारी का गीत नहीं पहुँचा। अच्छा अब छुट्टी। कल फिर आओगे तो ज्यादा बात करूंगा।

दिल्ली,
२८ जनवरी, १९४८ (लेखक से वार्तालाप करते हुए) मो० क० गांधी

'धरती गाती है' के लिए नन्द बाबू द्वारा अंकित मुखचित्र मुझे बहुत पसन्द आया। दूसरे चित्र भी अच्छे हैं। कुछ नये लेख मैं पढ़ गया हूँ। मैंने ब्रजकृष्ण से कह रखा है कि तुम्हारी पुस्तक की हस्तलिखित लिपि मेरे सामने से न उठाई जाय। आमुख मैं अभी तक नहीं लिख सका। सोचता हूँ, क्या लिखूँ।

सबर का फल मीठा होता है। अधीर होने की तो कुछ दरकार नहीं। समय मिलने पर मैं कुछ लिख दूँगा। खाली लोकगीतों की प्रशस्ति लिखने से तो काम नहीं चलेगा। ऊपर-ऊपर की बातें लिखने को भी मन नहीं होता। जिस कार्य में तुम्हारे बीस वर्ष खर्च हुए, उसमें मैं बीस दिन तो ले ही सकता हूं। तुम कहोगे मुझमें इतना सबर नहीं। अच्छा मैं जल्दी लिखने बैठूंगा। हो सका तो कल सवेरे ही कुछ लिख डालूंगा। ब्रजकृष्ण से कहो मुझे याद दिला दे। कल सवेरे न लिख सका तो वर्धा से लौटकर तो लिखना ही होगा।

दिल्ली,
२९ जनवरी, १९४८ (लेखक से वार्तालाप करते हुए) मो० क० गांधी

प्रस्तावना

चिर-परिचित शब्द : चिर-परिचित बातें : चिर-परिचित स्वर—यही लोकगीत की शक्ति है। कोई गीत पहाड़ी पगडंडीके समान ऊंचा-नीचा, कोई समतल प्रदेशके दूर तक फैले हुए क्षितिज की छवि लिये हुए। नीरव उदास दोपहरी के गीतों का रंग और होता है, रात्रि के गीतों का और। प्रत्येक ऋतु, प्रत्येक उत्सव, कातने-बुनने के धन्धे, जोताई-बोआई और निराई-कटाई की सामाजिक क्रियाएं—सभी के साथ गीतों के टांके लगे हुए हैं। मक्कई की रोटी जैसा सूर्य उदय होता है, सांझ हो आती है, रात बीत जाती है, और समय-चक्र के साथ-साथ लोकगीत के पहिये निरन्तर चलते रहते हैं। किसी क्लांत थकित युवती का चित्र, जिसका किसी भी काम में जी नहीं लगता, किसी वन प्रांतर का चित्र, एकाकीपन में गुथा हुआ, मातृ-वत्सलता की कोई कड़ी, ग्रामदेवता का आवाहन, अच्छी फसल के लिए प्रार्थना, किसी रीति-नीति, प्रथा या विश्वास का संकेत, कोई वीरगाथा, प्रेम-गाथा—ऐसी बहुमुखी सामग्री बार-बार लोकगीत के अटपटे शब्दों में प्रस्तुत की जाती रही है—युग-युगान्तर से। लोक-मानस की एक-एक रेखा, सामयिक बोध की एक-एक अवस्था, सामूहिक सुख-दुःख और सामूहिक विजय-पराजय, प्रकृति की गतिविधि, वृक्ष, पशु-पक्षी और मानव के पारस्परिक सम्बन्ध, बलि, पूजा टोने-टोटके—लोकगीतों की पृष्ठभूमि में समाज-विज्ञान के असीम भंडार का अध्ययन किया जा सकता है।

भारतीय लोकगीत अनेक शैलियां प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक जनपद का अपना रंग है, अपना रूप। गहन अध्ययन से यह पता चलते देर नहीं लगती कि ये सभी रङ्ग एक दूसरे के पूरक हैं। समस्त भारत एक है, भारतीय लोकगीत अपनी-अपनी अनेक शैलियों सहित इस तथ्य का समर्थन करते हैं। भाषा और बोली के भेद सब ऊपरी हैं। लोकगीत की चित्र-मंजूषा में भारतीय संस्कृति की एकता दीखती है—अनेकता के धागों के बीचों-बीच गुंथी हुई एकता, ध्वनि-चमत्कार और भाव-व्यंजना की विभिन्न गलियों के बीचों-बीच चतुर्दिक फैली हुई एकता।

आज सोचता हूँ कि कैसे इस लघु जीवन के बीस वर्ष भारतीय लोकगीतों से अपनी झोली भरने में बिता दिए, तो स्वयं चकित रह जाता हूँ। कोई विशेष साधन तो था नहीं, सुविधाओं का तो कभी प्रश्न ही नहीं उठा था। मेरी शिक्षा भी कम थी। फिर भी एक लगन अवश्य थी, एक धुन। आज सोचकर भी यह कहना कठिन है कि नये-नये स्थान देखने की, नये-नये लोगों से मिलने की धुन अधिक थी या वस्तुतः लोकगीत संग्रह करने की धुन। जो भी हो, मैंने निरन्तर लम्बी-लम्बी यात्राएं कीं। कई जनपदों में तो मैं दो-दो तीन-तीन बार गया। इन्हीं यात्राओंमें मैंने शिक्षाकी कमी को भी पूरा किया।

मेरा यह दावा बिलकुल नहीं कि 'धरती गाती है' भारतीय लोकवार्त्ता का वैज्ञानिक अध्ययन है। एक खानाबदोश के रूप में मैंने केवल देखे हुए स्थानों और वहां के निवासियों के कंठ से सुने हुए लोकगीतों की निजी चर्चा की शैली को अपनाना ही अधिक उचित समझा। यही मेरे लिए अधिक सम्भव भी था। शायद कहीं-कहीं लोकवार्त्ता के वैज्ञानिक अध्ययन का आभास भी मिल जाय। इसके लिए मैं निरन्तर सतर्क नहीं रहा।

प्रायः पाठक का ध्यान विशेषज्ञ के प्रति खिंच जाता है तो भी एक साधारण मनुष्य के स्वाभाविक उद्गारों के प्रति भी उसे कुछ कम कौतूहल नहीं होता। जिन-जिन भाषाओं अथवा बोलियों के लोकगीतों की मैंने चर्चा की है उनके प्रति मैंने अधिक-से-अधिक सच्चा रहने का यत्न किया है। जहां भी मैं गया, मैंने किसी-न-किसी दोभाषिए की सहायता से उन सब गीतोंका अनुवाद साथ-साथ तैयार करने का क्रम जारी रखा, प्रत्येक शब्दका अनुवाद, प्रत्येक कड़ी का अनुवाद; क्योंकि इतना धैर्य मुझ में नहीं था कि पहले उस भाषा को पूरी तरह सीख लूँ और फिर गीत संग्रह का कार्य हाथ में लूं। अनुवाद करते-करते मै इस प्रयत्न में क्रमशः अधिक-से-अधिक सफल होता चला गया। मैं समझता हूँ विभिन्न भाषाओं का विशेष ज्ञान न होते हुए भी मुझे किसी-न-किसी सीमा तक उन भाषाओं की शक्ति प्राप्त हुई है जिनके गीत मैं संग्रह करने में समर्थ हो सका, भले ही मुझे सदैव किसी-न-किसी का सहारा ताकना पड़ा है। मैं अनेक दोभाषियों और अन्य सहायकों का कृतज्ञ हूं जिनके अनथक सहयोग द्वारा मैं विभिन्न भाषाओं और बोलियों की खाई को पाट सका। किसी भी भाषा के क्षेत्र में किसी-न-किसी चतुर दोभाषिए के सहयोग से तैयार किया हुआ अनुवाद एक हद तक बहुमूल्य सिद्ध होता है; क्योंकि जब इसकी मदद से मूल गीत का अध्ययन करते हुए बाद में जो सुधरा हुआ अनुवाद प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है वह वस्तुतः किसी ऐसे अनुवाद से टक्कर ले सकता है जो उस भाषा के किसी विशेषज्ञ ने प्रस्तुत किया हो।

अनुवाद भी एक कला है। सचमुच यह बड़ी ज़िम्मेदारी का काम है। न एक शब्द ज़्यादा, न एक शब्द कम; पंक्तिवार अनुवाद; यही है अन्तर्राष्ट्रीय लोकगीत-विशेषज्ञों की शैली। आर्थरवैली ने पुरातन चीनी लोकगीतों के अंग्रेज़ी के अनुवाद प्रस्तुत करते समय इसी शैली को अपनाया है; भारत में वैरिमर ऐलविन और डब्ल्यू० जी० आर्थर ने गोंड और उराँव लोकगीतों के अंग्रेज़ी अनुवाद करते समय आर्थरवैली से पग मिलाकर चलने का

प्रयत्न किया है। यही शैली अब हिन्दी में भी प्रचलित होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

लोकगीतों की स्वरलिपी मैं प्रस्तुत नहीं कर सका। इसका मुझे बहुत खेद है। जिस आनन्द से मैंने लोकगीत सुने और लोकनृत्य देखे उसका वर्णन मैंने स्थान-स्थान पर किया है।

श्री रामनरेश त्रिपाठी के लोकगीत सम्बन्धी कार्य से मुझे सदैव प्रेरणा मिलती रही है। युक्तप्रान्त और बिहार के लोकगीत उनके चिर ऋणी रहेंगे। स्व० सूर्यकरण पारीक, श्री ठाकुर रामसिंह और श्री नरोत्तमदास स्वामी ने सैंकड़ों राजस्थानी लोकगीतों का उद्धार किया है। श्री राम इकबाल सिंह राकेश ने मैथिली और श्री कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी लोकगीतों के लिए अनथक प्रयत्न किये हैं। श्री श्यामाचरण दुबे आजकल छत्तीसगढ़ी लोकगीतों की वैज्ञानिक खोज कर रहे हैं। हिन्दी मे लोकगीत-आन्दोलन का भविष्य उज्वल है, यह आशा की जा सकती है। श्री वासुदेवशरण अग्रवालने भाषा-विशेषज्ञ और कला-पारखी के दृष्टिकोण से विभिन्न जनपदों के लोक-संस्कृति और कविता की ओर विशेष रूप से हिन्दी-जगत् का ध्यान आकर्षित किया है। इस दिशा में श्री शिवदान सिंह चौहान ने भी कुछ कम उद्योग नहीं किया।

गांधीजी ने इस पुस्तक का आमुख लिखना स्वीकार किया था। पर इससे पूर्व कि वे कुछ लिख पाते उन्हें बलि की वेदि पर चढ़ जाना पड़ा। इस पुस्तक के सम्बन्ध में उनसे जो वार्ताजाप हुआ था वह आमुख में उद्धृत है।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को यह पुस्तक समर्पित करते हुए मुझे विशेष गर्व अनुभव हो रहा है। १९४० में मद्रास की वाई० एम० सी० ए० द्वारा आयोजित मेरे लोकगीत सम्बन्धी व्याख्यान के समय उन्होंने सभापति के आसन को सुशोभित किया और इस कार्य में मेरा उत्साह बढ़ाया। उसी संस्मरण के प्रति कृतज्ञता स्वरूप यह पुस्तक उन्हें समर्पित करता हूं।

'विशाल भारत' के भूतपूर्व सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की मुझ पर विशेष कृपा रही है। इस पत्र के भूतपूर्व सहकारी सम्पादक स्व० ब्रजमोहन वर्मासे उत्साहपूर्वक सहयोग न मिला होता तो शायद मैं हिन्दी लिखने का अभ्यास ही न कर पाता। हिन्दी-भवन, शान्तिनिकेतन के अध्यक्ष श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और मित्रवर वात्स्यायन ने भी अनेक अवसरों पर बहुमूल्य सुझाव दिये। १९३४ की काश्मीर यात्रा के साथी बलराज के सहयोग को क्या मैं कभी भुला सकता हूँ ? किस-किस मित्र का नाम गिनाया जाय ? मैं सभी मित्रों का चिर ऋणी रहूंगा।

१००, बेयर्ड रोड, दिल्ली
७ जुलाई, १९४८

देवेन्द्र सत्यार्थी

धरती गाती है

: १ :

मेरी कल्पना में तीन हज़ार वर्ष पूर्व का चित्र सजीव हो उठता है। आर्यों के काफ़िले पंजाब में प्रवेश कर रहे हैं। इन लोगों के माथों पर लम्बी यात्रा के चिह्न दिखाई देते हैं। मध्य-एशिया के रेगिस्तान पार करते हुए पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते यहां पहुंचना कुछ सहज तो न था। सीमाप्रांत और पंजाब में बस कर उन्हें पयस्विनी नदियों और उपजाऊ धरती की महत्ता का अनुभव होता है। पर आर्य-सभ्यता यहीं तक सीमित नहीं रहती। आदिम निवासियों से मुठभेड़ होती है। उन्हें भगाया जा रहा है। दूर-दूर खदेड़ने की चेष्टा की जाती है। रक्त गिरता है। कौन भला अपनी धरती को आसानी से छोड़ता है? बार-बार धरती लाल हो उठती है। अप्रतिहत रथ के चक्के और यज्ञकुण्ड की अग्नि—यही आर्य-सभ्यता के प्रतीक हैं। आर्य-सभ्यता का प्रसार इनका ऋणी है। चक्के घूमते हैं। जब एक पड़ाव पर यज्ञ की अग्नि विजयी हो उठती है, रथ और आगे बढ़ता है। आदिम निवासी बार बार होड़ लेते हैं। पर वे रथ के चक्कों और यज्ञकुण्ड की लपटों की रोक-थाम नहीं कर सकते। फिर भी आर्यों को बिहार तक की यात्रा में कई

शताब्दियां लग जाती हैं। आर्य खुश नज़र आते हैं। बड़े गौरव से धरती पर पैर टिकाने की इस महान् घटना का गान करते हुए वे इस विशाल देश को सदा के लिए अपना लेते हैं।

समस्त आर्य जनता की ओर से पृथिवी सूक्त का वैदिक कवि कह उठता है—

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्

—पृथिवी सूक्त, १२।१।११

—'मैंने अजीत, अहत और अक्षत रूप में सबसे पहले इस धरती पर पैर जमाया था।

आर्य-सभ्यता के प्रसार की कथा शतपथ ब्राह्मण के पृष्ठों पर आज भी हमारा ध्यान खींच लेती है। इस कथा की रूपरेखा कुछ इस प्रकार है—

राजा विदेघ माधव अग्नि वैश्वानर को अपने मुंह में बंद कर लेता है। राजा का पुरोहित गौतम राहुगण राजा से प्रश्न करता है। पर डर के मारे कि कहीं अग्नि मुंह से चू न पड़े राजा कुछ उत्तर नहीं देता। पुरोहित ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से अग्नि का आवाहन करता है, पर इसका कुछ नतीजा नहीं निकलता। फिर एक मन्त्र में घृत का नाम आने पर मारे लालच के अग्निदेव धरती पर टपक पड़ते हैं। उन दिनों विदेघ माधव का निवास सरस्वती के किनारे था। धरती पर गिरी अग्नि प्रज्वलित होती हुई पूर्व दिशा की ओर चल पड़ती है और विदेघ माधव और गौतम राहुगण उसके पीछे-पीछे हो लेते हैं। रास्ते में अपने प्रज्वलन से नदियां सुखाते हुई अग्नि उत्तर हिमालय से निकली सदानीरा नदी पर आ पहुँचते है। यहां अग्नि की ज्वलन-शक्ति शांत हो जाती है। इससे पहले ब्राह्मण इस नदी को पार नहीं करते थे, क्योंकि अग्नि वैश्वानर ने उसे जलाया नहीं था। पर शतपथ ब्राह्मण-युग मे अनेक ब्राह्मण नदी से पूर्व में भी रहने लगे थे। सदानीरा नदी के किनारे अग्नि स्थित हो जाती है। इससे पहले सदानीरा के पूरब खेती नहीं होती थी, क्योंकि इधर बहुत से दलदल थे; जिसका कारण था धरती को वैश्वानर अग्नि का साक्षात्कार न होना। शतपथ युग मे वहां खेती होती थी और गरमी में भी नदी में ठण्डा पानी ज़ोरों से बहा करता था। राजा विदेघ माधव अग्नि वैश्वानर से अपना स्थान पूछते हैं तो नदी के पूरब की भूमि की ओर इशारा कर देते हैं। शतपथ युग में सदानीरा नदी जिसे आज का युग गण्डक कहकर पुकारता है, कोशल और विदेह की राज्य सीमाओं को अलग करती थी।

—शतपथ ब्राह्मण, १।४।१।१०–१७

पृथिवी सूक्त की आवाज़ आज भी इस विशाल देश में प्रतिध्वनित हो उठती है—

माताभूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः

—'धरती मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।'

इस वाणी की महत्ता के सम्बन्ध में डा० मोतीचन्द्र का यह कथन सौ बिसवे

ठीक है—"उस महान् सूक्तकार की दृष्टि में उनकी मातृभूमि मिट्टी, पहाड़ों, जङ्गलों, और नदियों से बनी केवल एक महती भूमिखण्ड ही नहीं है। उसके लिए धरती जीती-जागती माता है, जिसके दूध से पलकर हम प्राणवान् होते है, जिसके आँचल मे छिपी धनराशि को पाकर हम संसार के सुखों को भोगते है, जिस पर हम जीते हैं, हँसते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं, और अन्त में मरकर फिर उसी में मिल जाते हैं।"

धरती माता की कल्पना इस देश के आदिम निवासियों पर आर्यों की प्रथम विजय की प्रतीक है। साथ ही यह इस बात की भी परिचायक है कि मध्य एशिया के रेगिस्तानो के साथ इस देश की शस्य श्यामला की विषमता का अनुभव आर्यों के लिए अत्यन्त महत्वशाली था।

एक बुँदेली लोकगीत मे धरती माता सम्बन्धी वैदिक कल्पना सजीव हो उठी है—

धरती माता तैंने काजर दये
सेंदरन भर लई माँग
पहर हरिअला ठाँड़ी भई
तैंने मोह लयो जगत संसार।

—'हे धरती माता, तुमने आंखों में काजल डाल लिया
सिंदूर से मांग भर ली
हरियाले वस्त्र पहन कर तुम खड़ी हो गई हो
तुमने समस्त संसार को मोह लिया है।'

लोककवि ने पुरातन रेखचित्र में रँग भरते समय चित्र की रूप-रेखा मे एक नवीन चेतना प्रस्तुत कर दी है।

हमे फिर से वैदिक कवि का स्मरण हो आता है—

सानो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि

—'हे मातृभूमि, तुम हिरण्य संदर्शन से हमारे सामने प्रकट हो। तुम्हारी हिरण्मयी प्ररोचना को भी हम देखना चाहते हैं।'

जहां तक लोकगीत का सम्बन्ध है, यहां भी वही गाथा सुनाई जा रही है। बल्कि यह कहना होगा कि लोकगीत में चित्र अधिक सजीव है। धरती के नारी और माता रूप का मिश्रण बहुत सुन्दर है। आँखों में काजल, माँग में सिंदूर और शरीर पर हरियाले वस्त्र—इस रूप में यदि धरती ने समस्त संसार को मोह लिया तो कोई आश्चर्य नहीं।

यद्यपि इस देश के आदिम निवासी आर्यों के सन्मुख हार गए थे, परन्तु इससे इन्कार नही किया जा सकता कि आदिम-निवासियो की विजित सभ्यता ने आर्यों की विजयी सभ्यता पर प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया था। डा० मोतीचन्द्र ने ठीक लिखा है—"यह कहना कठिन है कि पृथिवी सूक्त मे देश के प्रति जो विचार प्रकट किये गए हैं, उनमें कितने विचार देश के उन आदिम निवासियो के हैं जिनमें आज दिन भी धरती

माता मानी जाती है। बैगा धरती को अपनी माता मानते हैं और इसकी पूजा करते हैं क्योंकि उनके सब देवताओं में केवल धरती माता ही ऐसी है जो बैगों को अपने बच्चों की तरह प्यार करती है (वेरियार एलविन कृत 'दि बैगा' पृष्ठ ४८—४९)। धरती की तरफ उनकी इतनी आस्था है कि उसकी छाती पर हल चलाना वे पाप समझते हैं। शराब पीते समय भी वे अपनी धरती माता को नही भूलते और एक बूँद उसे चढ़ाकर शराब पीते हैं। धरती का यह प्रेम केवल वैदिक आर्यों तक ही सीमित नहीं था। फ्रेज़र हमें बताते हैं कि ग्रीस, रोम, चीन, अफ्रीका और अमेरीका में भी धरती पूजा का प्रचार था (फ्रेज़र—'दी वर्शिप आफ नेचर'-चेप्टर ६--११)। लेकिन वैदिक आर्यों की मातृभूमि की कल्पना मे आधिदैविक और आधिभौतिक विचारों का एक सामञ्जस्य है, जो वैदिक आर्यों की विचार धारा की एक खास देन है।"

पृथिवी-सूक्त के वैदिक कवि की और हमारा ध्यान बार-बार आकर्षित होता है—

—'हे धरती, तुम हमारे पूर्वजों की भी माता हो। तुम्हारी गोद में जन्म लेकर पूर्वजो ने अनेक विक्रम के कार्य किये हैं।'

—'धरती पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएं और समितियाँ हैं, जो सार्वजनिक सम्मेलन हैं, उनमें, हे धरती ! हम तुम्हारे लिए सुन्दर भाषण करें।'

धरती-सम्बन्धी एक पौराणिक कल्पना भी कुछ कम अर्थपूर्ण नहीं है। कहते हैं कि जब-जब धर्म की अवनति होती है और धरती पर अनाचार बढ़ जाते हैं तब-तब धरती गाय का रूप धारण करके देवताओ से धर्म के पुनः स्थापन के लिए प्रार्थना करती है। इसका यही तात्पर्य है कि अनाचार से धरती टिक नहीं सकती। धरती पर सदैव युग-धर्म की विजय होती है। यही युग-धर्म धरती का आधार है।

मातृभूमि की शत-सहस्रों प्रतिभा ने युग-युगान्तर से न जाने कितनी बार धरती का यशोगान किया है !

बुन्देली किसान की आवाज़ मे स्वयं धरती गाती है—

धरती माता तो में दो भये
इक आंधी इक मेय
मेय के बरसे साखा भई
जा में लिपट लगे सँसार।

—'हे धरती माता, तुम से दो वस्तुएं उत्पन्न हुईं'
आँधी और मेंह,
मेह बरसने से खेती उगती है
उसो में संसार जी-जान से लिप्त है।'

एक गुजराती लोकगीत मे इससे भी सुन्दर भाव प्रदर्शित किया गया है—

संसार मा बल सरज्याँ इक धरती बीजे आभ
वधाओ रे आविओ !

—'संसार में दो बलवान् वस्तुओं का सृजन हुआ—एक धरती दूसरे आकाश बधाई का दिन आ गया।'

इस गुजराती लोकगीत में बताया गया है कि आकाश से जल बरसा और धरती पर फसलें लहलहाने लगीं। बधाई का दिन आ गया। संसार में दो बलवान् वस्तुओं का सृजन हुआ। एक गाय, दूसरे घोड़ी। बधाई का दिन आ गया। गाय का पुत्र हल में जुत गया और घोड़ी का पुत्र परदेस की सैर कराने लगा। बधाई का दिन आ गया। संसार में दो बलवान् वस्तुओं का सृजन हुआ—एक माँ, दूसरे सास। बधाई का दिन आ गया। माँ ने मुझे जन्म दिया, सास ने मेरे पति को। बधाई का दिन आ गया संसार में दो बलवान् वस्तुओं का सृजन हुआ—एक पिता दूसरे ससुर। बधाई का दिन आ गया। पिता ने मुझे लाड लड़ाया और ससुर ने मेरे हृदय में लज्जा का भाव भर दिया। बधाई का दिन आ गया।

यह गुजराती लोकगीत समाज का अभिनन्दन-गान है। समाज का आधार धरती है, जिसपर गाय का पुत्र अगणित शताब्दियों से हल में जुतता आया है।

'गिद्धा' नृत्य का एक पंजाबी लोकगीत यों आरम्भ होता है—

धरती जेड गरीब न कोई
इन्दर जेड न दाता।

—'धरती के समान कोई गरीब नहीं
इन्द्र के समान कोई दाता नहीं।'

धरती उस समय गरीब होती है जब अनाज का भाव इतना गिर जाय कि किसान के पल्ले उसकी मेहनत का आधा भाग भी न पड़े। भला हो इन्द्र का, जो मेंह बरसा कर धरती की गरीबी को दूर करने के यत्न में संलग्न रहता है। पर जब तक अनाज ठीक दाम पर बिकना आरम्भ नहीं होता, किसान की कठिनाई दूर नहीं होती। एक अन्य पंजाबी लोकगीत में जनता गा उठी है—

कनके ! नी इक्क वेर फेर दस्स खां
मंहगी बन के !

—'अरे गेहूं ! जरा एक बार फिर दिखाओ तो
मंहगे बन कर।'

जब जनता यह गीत गाती है तो जैसे जनता के साथ स्वयं धरती माता भी स्वर में स्वर मिला कर गा उठती है।

देश में अनेक युग प्रारम्भ हुए और उनका अंत होता रहा। पर धरती का चिर-

नवीन रूप निहार कर आज भी जनता की आँखे सदैव की भांति ही तृप्त हो उठती हैं। आज भी जनता को मातृभूमि की धूल प्रिय है। भूरी, लाल और काली मिट्टियों के गीत आज भी हमारे लोक-साहित्यमे सुरक्षित है। आवश्यकता तो केवल इस बात की है कि एक छोर से दूसरे छोर तक देश की आत्मा को टटोल कर देखने का यत्न किया जाय। अनेक गीतों में वर्षा का अभिनन्दन किया गया है। अनेक गीतों में विभिन्न प्रकार की हवाओं की प्रशंसा की गई है। वृक्षो को उखाड़ फेंकने वाले अंधड़ो को भी इन गीतों में भुलाया नही गया। उमड़ते हुए मेघ, कौंधती हुई बिजलियाँ, वर्षा से अप्लावित धरती, ये चित्रपटो की भांति हमारा ध्यान खीचने लगते है। अनेक गीतों में गाय, बैल और भैंस इत्यादि का यशोगान किया गया है। दूध की नदियो की कल्पना बार-बार सजीव हो उठती है।

प्राचीन सूक्तकार अपने सन्मुख धरती का चिर-नूतन और चिरन्तन रूप देख कर गर्वीले स्वरो में गा उठा था—

—'जिस धरती पर जन-समुदाय नाचता है, गाता है और जय दुंदुभी बजाता हुआ युद्ध करता है, ऐसी मेरी धरती शत्रुओं से मेरी रक्षा करे!

धरती की बन्दना करते हुए सूक्तकार कवि ने अपने पुरखो की अमर-कीर्ति का गान छेड़ दिया था, जिससे अनुप्राणित होकर धरती माता का यश बढ़ा—

—'हे धरती तुम्हारी जो गन्ध कमलोमें बसी हुई है, उस गन्धसे मुझे सुरभित करो।'

—'हे विश्वम्भरा, वसुधानी हिरण्यमयी धरणी, तुम अपने ऊपर बसे हुए संसार की स्थिति का कारण हो। तुम्हारे गूढ़ प्रदेशो में अनेक निधियां भरी पडी है। तुम रत्न और स्वर्ण को देनेवाली हो। तुम्हारी कृपा से राष्ट्र के कोष भरे हैं।'

—'जिस धरती पर गतिशील व्यापक जन दिन-रात बिना प्रमाद के बह रहे हैं, वह धरती उन अनेक धाराओं को हमारे लिए दूध मे परिणत कर, हमे वर्चस से सींचे।'

धरती का यह अभिनन्दन आज भी धरती के गीतो मे रचा हुआ है। दश का एक-एक प्रान्त, एक-एक छोटा बड़ा जनपद, इस अभिनन्दन में सम्मिलित होता है। जब धरती माता स्वयं अपनी सन्तान के साथ स्वर में स्वर मिला कर गाती हैं तो यो प्रतीत होता है कि समस्त देश एक है और इसकी एकता को कभी चुनौती नहीं दी जा सकती।

: २ :

धरती के गीत सार्वकालिक और सार्वलौकिक होते हैं, क्योंकि इनका निमन्त्रण कभी संकीर्ण नहीं होता। इनकी पृष्ठभूमि मे जल-थल-आकाश तथा फल-फूल-शस्य के चित्र अपनी चिर-नवीन छटा दिखाकर देखने वाली आंख पर अपना प्रभाव किये बिना नहीं रहते, चाहे वह व्यक्ति किसी विशेष लोकगीत की जन्मभूमि से हज़ारों कोस की दूरी पर

ही क्यों न रहता हो और भले-ही एक-भाषा में भी गीत का रसास्वादन करने के स्थान पर उसे केवल इसका भावानुवाद ही उपलब्ध हो । परन्तु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि लोकगीत भौगोलिक कारणों से प्रभावित नहीं होते ।

यजुर्वेद के एक सूक्त में अन्य मंगलकामनाओं के अन्तर्गत वर्षा ऋतु का आवाहन भी किया गया है, जो वैदिक काव्य पर भौगोलिक प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है । यज्ञ के अनन्तर आशीर्वाद देते हुए ब्राह्मण कह उठता है :"हे ब्रह्मन् ! इस देश में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस हों। इस राष्ट्र में राजन्य, शूर तथा महारथियों का जन्म हो । दूध देने वाली गायें, बलवान् वृषभ, वायु की गति से भागने वाले घोड़े तथा साध्वी और वीरप्रसू महिलाएँ हों । सभेय युवक हों तथा रथ पर चढ़कर लड़ने वाले वीर इस देश में पैदा हों । समय-समय पर पर्जन्य हमें वर्षादान करें । फलवती औषधियाँ इस देश में पैदा हों । योग होम से हमारा कल्याण हो ।"

पर्जन्य शब्द यहाँ मेघ और इन्द्र दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है । यह महत्वपूर्ण शब्द मुकुर का काम देता है जिसमें भारत जैसा तप्त देश अपने सामूहिक व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित कर उठता है । शत-शत लोकगीतों में अनेक नामों द्वारा इसी 'पर्जन्य' का आवाहन किया गया है ।

'पर्जन्य' के बिना इस देश की मुक्ति कठिन थी । वर्षा कितनी सुखकर होती है यह केवल एक तप्त देश के निवासी ही अनुभव कर सकते हैं । इसी भौगोलिक प्रभाव के कारण कदाचित् आर्यों के इस देश में आने से पूर्व यहाँ के आदि-निवासियों के लोकगीतों में वर्षाऋतु के प्रीतिकर भावों का उदय हो चुका होगा। 'नेह बादल' उमड़ने की कल्पना इस देश में युग-युग से चली आती है। 'मेघदूत' का विरही यक्ष किस प्रकार एक मेघ द्वारा अपना सन्देश अपनी प्रेयसी के पास भेजता है, यह केवल परम्परागत काव्यधारा का परिष्कृत रूप है। अनेक फुटकर गीतों में देश की सामूहिक आत्मा ने मेघों को सम्बोधित किया है ।

श्री नन्दलाल वसु ने एक चित्र में सन्थाल गायक को अपने वाद्य-यंत्र पर इतनी शीघ्रता से गज़ चलाते हुए दिखाया है कि बरबस इसकी ओर देखते रहने से यही ध्यान आता है कि यन्त्र के तार न जाने किस समय टूट जायं । गायक के समीप एक वैरागी ध्यानमग्न बैठा है और उसे यह परवाह नहीं कि उसका कमण्डल किधर लुढक गया । झोंपड़ी की छत से एक पिंजरा लटक रहा है जिसमें कदाचित् बन्दी पंछी को वह दिन याद आगए हैं जब वह स्वतन्त्र विचरता था । आकाश मेघाच्छन्न है । इस चित्र पर प्रथम आषाढ़ की तिथि का उल्लेख हुआ है जो प्रतीक रूप से उस शुभ दिवस की याद दिलाती है जब कालीदास ने मेघदूत की रचना आरम्भ की थी । निश्चय ही यह सन्थाल गायक मल्हार या मेघ-मल्हार के स्वर छेड़ रहा है । अनायास ही हमारा ध्यान रवीन्द्रनाथ के एक लोकप्रिय गान की अंतिम पंक्तियों की ओर चला जाता है—

ये शाखाय फुल फोटे न फल धरे ना एकेबारे
तोमारि बादल बाये दिक जगाये सेइ शाखारे।
या किछु जीर्ण आमार दीर्ण आमार जीवनहारा
ताहारि स्तरे स्तरे पडुक झरे सुरेर, धारा।
निशिदिन एई जीवनेर तृषार, परे भुखेर परे
श्रावणेर धारार मतो पडुक झरे पडुक झरे॥

—'जिस शाखा पर फूल नहीं खिलते, फल नहीं लगते
तुम्हारी यह बादल-हवा उस शाखा को जगा दे
जो कुछ भी मेरा फटा-पुराना है, निर्जीव है
उसके प्रत्येक स्तर पर तुम्हारे स्वरों की धारा झड़ती रहे
दिन रात इस जीवन की प्यास पर, भूख पर
यह सावन की झड़ी के समान झडती रहे, झड़ती रहे।'

यह कहना सहज नहीं कि यूरोप में, जहाँ वर्षा शीत-ऋतु में होती है और प्राय: अनिष्ट की प्रतीक है, 'क्रोध के बादल' या 'युद्ध के बादल' की कल्पना के स्थान पर कोई कवि रवीन्द्रनाथ के स्वरो में प्रीतिकर 'बादल-हवा' का आवाहन कर सकता है। इस श्रेणी के लोकगीत भी 'बिरादरी के भोज' के समान हैं, क्योंकि इनका वास्तविक रस उन्हीं देशों के लोग चख सकते हैं जहाँ प्रकृति ने जल-वायु की यही व्यवस्था कर रखी है।

देश, काल और पात्र से लोकगीत की वास्तविक पहचान की जा सकती है। इसी कसौटी पर इसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए। लोकगीत की जड़ें जिस देश में, धरती में टिकी होती हैं, उसी देश की संस्कृति का ही वह गीत प्रतिनिधित्व करता है। जिस मिट्टी से देश की सामूहिक प्रतिभा उपजती है, उसीके अनुरूप इसमें रसबोध होता है, प्रेरणा होती है, संस्कृति के प्रति आस्था होती है।

वैसे तो भारत में प्रत्येक ऋतु का पृथक् संगीत है। प्रत्येक ऋतु-उत्सव देश के सामूहिक सौंदर्यबोध का परिचायक है। बंगाल मे शरद् ऋतु के साथ युग-युग से धान के खेतों और पद्म-वनों का सौंदर्य उपभोग करने की परम्परा चली आती है। वसन्त में टेसू और सेमल का मेला देखना किसे रुचिकर न होगा? इसी प्रकार अमलतास के फूल ग्रीष्म के प्रतीक हैं। पावस या वर्षा में मेघाच्छन्न आकाश लोकगीत के लिए सामग्री जुटाता है। किसी-न-किसी रूप में भारत का प्रत्येक जनपद 'वर्षा-मंगल' की प्रेरणा से झूम उठता है।

वर्षा में मल्हार गाया जाता है। ब्रज में सावन के गीत आज भी 'मल्हार' कहलाते हैं। इनको लक्ष्य में रखते हुए यह बात कही जा सकती है कि 'मल्हार' आरम्भ में लोक-संगीत की वस्तु रहा होगा। आज भी कांगड़ा और शिमला के पहाड़ी प्रदेश में 'झंझोटी' और पूर्व बंगाल मे 'भटियाल' प्रचलित है। इससे यह अध्ययन किया जा सकता है कि किस

प्रकार लोक-संगीत का उपादान धीरे-धीरे परिष्कृत होकर उच्च, सर्वसम्मत संगीत में प्रवेश करता रहा है। परन्तु यह विषय अभी अधिकारी अन्वेषकों द्वारा विचार करने का है। तानसेन के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि दीपक राग गाने के कारण उसका समस्त शरीर झुलसा जा रहा था और वह इस तलाश में भटक रहा था कि कोई शुद्ध मल्हार गाकर उसे शीतल कर दे। कहते हैं कि एक कृषक युवती ने मल्हार गाकर उसकी वेदना को शान्त किया। इससे पता चलता है कि वह उस युग की बात है जब मल्हार ने उच्च संगीत में नया-नया प्रवेश किया होगा, और उस समय तानसेन जैसे सङ्गीतज्ञ इस बात को स्वीकार करते थे कि इसका मूल-स्रोत लोक-सङ्गीत ही है।

ब्रज के दो मल्हार गीत अर्थगांभीर्य के अछूते उदाहरण हैं—

इन्द्र राजा

चौकी तो चन्दन, इन्दर राजा, बैठनो जी
ए.जी कोई दूध पखारूंगी पाय
आज मेहर कर, इन्दर राजा, देश में जी।
चामर राँधू, इन्दर राजा, ऊजरे जी
ए जी कोई हरी मगोरी धोबादार
आज मेहर कर, इन्दर राजा, देश में जी।
ब्यौ भरी ताड जी इन्दर राजा, तामनी
ए जी कोई पापर सेकूँगी चार
आज मेहर कर, इन्दर राजा, देश में जी।
जैमत निरखूँजी, इन्दर राजा आंगुरी जी,
ए जी कोई चलते निरखूँगी चाल
आज मेहर कर, इन्दर राजा, देश में जी।
पंचरंग पलिका, इन्दर राजा, पौढ़नो जी
ए जी कोई गलीचा झालरदार
आज मेहर कर, इन्दर राजा, देश में जी।

मेघासिन रानी का गीत

रानी, ऊंचौ तो चौरो चौखनो
दूध पखारूंगी पाय
मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, हारीन छोड़ी हाथा हेली
मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, भैयन छोड़ी हैं बहिन

मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, बैलन जूआ डारिओ
मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, नारिन त्यागें हैं पीऊ
मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, गायन बछड़ा छोड़ियौ
मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, भैंसिन सूखौ है दूध
मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, आय इन धीर बंधाइयौ
मेघासिन रानी कित गई जी ?
और बरसौ गहर गंभीर
मेघासिन रानी कित गई जी ?

वैदिक देवमाला में इन्द्र का स्थान अन्तरिक्ष है और वह जल बरसाता है । पहले गीत में उसका आवाहन करते हुए गाँव की स्त्री कहती है—मैं तुझे चन्दन की चौकी बैठने को दूंगी और दूध में तेरे पांव धोऊँगी । उजले चावल पकाऊँगी और मूँग की धुली हुई दाल होगी । ताम्बे की कटोरी में घी गरम करूंगी और चार पापड़ भी सेकूँगी । तुम भोजन खा रहे होगे और मैं तुम्हारी उँगलियों की ओर निहारूँगी । तुम चलोगे तो तुम्हारी चाल देखूँगी । पंचरंग पलंग पर झालरदार गिलम गलीचा बिछाकर तुम्हें सोने के लिए कहूँगी । बस हमारे देश पर आज दया दिखा दो·····। दूसरे गीत में इन्दर राजा ही का स्त्री-रूप है 'मेघासिन रानी' । ठीक समय पर वर्षा न होने पर जनता की जो अवस्था होगी उसकी एक झाँकी यहाँ उपस्थित की गई है·····मेघासिन रानी कहाँ चली गई ? यह प्रश्न उग्र हो उठा है । चोरों ने हथफेरी छोड़ दी । भाइयों ने बहिनों को त्याग दिया । बैलों ने जूआ गिरा दिया । नारियों ने पतियों को त्याग दिया । गौओं ने बछड़े छोड़ दिये । भैंसों का दूध सूख गया । रानी, आओ और धीर बँधाओ और गहर गम्भीर वर्षा बरसाओ ।

ऋग्वेद में पर्जन्य के स्तुति-गान में एक स्थान पर एक स्वर होकर आर्य जनता कह उठी थी—

'हे पर्जन्य, तुम्हारे प्रसाद से ही नानाविध औषधियाँ विश्व-विचित्र रूप हो उठी हैं । हमारे जीवन में भी तुम नित्य विचित्र कल्याण-दान करो । जब तक तुम नहीं आये थे, तब तक समस्त धरती मरी हुई, सूखी हुई सपाट थी । तुम्हारे आते ही सब कुछ नाना रस, नाना भावों से भर उठा ।'

यद्यपि इस सभ्यता के युग में अनेक स्थानों पर नहरें खुद गई है जिनकी सहायता

से कृषिसेवी भारत ने बहुत कुछ उन्नति भी की है। पर सच पूछो तो 'पर्जन्य' या 'इन्द्र' की सहायता की आज भी उतनी ही आवश्यकता अनुभव की जाती है जितनी कि वैदिक युग मे की जाती होगी।

मिथिला के लोकसंगीत की चर्चा करते हुए श्री राकेश लिखते हैं: "मलार पावस ऋतु में स्त्री पुरुष दोनो गाते हैं। लेकिन दोनों के गाने के ढंग अलग-अलग हैं। औरतें इन्हें गाने के वक्त किसी साज-बाज की मदद नहीं लेतीं। हिंडोले पर बैठकर वे सम्मिलित स्वरों में गाती हैं। पुरुष साज-बाज की मदद से गाते हैं, और जब वे पंचम में पूरी आवाज़ के साथ राग अलापते हैं तब कभी-कभी तबले और मृदंग (थाप के चोट से) कड़क कर टूक-टूक हो जाते हैं।"

निम्नलिखित मैथिली लोकगीत में इन्द्र देवता का आवाहन किया गया है—

हाली-हुलु बरसू इनर देवता
पानी बिनु पड़इछइ अकाले हो राम!
चौर सूखल, चांचर सूखल,
सूखि गेलइ भइआ के जिराते हो राम!
रांडी बमनिआ हरवा जोतइ छइ
फरवा उछटि अड़िया लगइ छइ हो राम!
हाली हुलु बरसू इनर देवता
पानी बिनु पड़इ छइ अकाले हो राम!
धोबिआ आंगन में गादर गुदर पनिया
ओही में नहाये सब बमना हो राम!
धोतिया फींचल जनेऊआ सोंटल
रची-रची तिलक चढ़ावे हो राम!
हाली हुलु बरसू इनर देवता
पानी बिनु पड़इ छइ अकाले हो राम!
जनमा के धीआ-पुता कल्ह-मल्ह करइ छइ
मालिक सब बेड़ियो न खोलइ छइ हो राम!
गांव के पटवरिया झूठे-मूठे लिखइ छइ
सरले खेसारी बन तौलइ छइ हो राम!
हाली हुलु बरसू इनर देवता
पानी बिनु पड़इ छइ अकाले हो राम!

—'रिमझिम बरसो, इन्द्र देवता,
पानी के बिना दुर्भिक्ष पड़ रहा है, अहो राम!
हरे-भरे मैदान सूख गए, नदी-नाले और तालाब सूख गए

मेरे भाई की हरी फ़सल से भरने वाले खेत भी सूख गए, अहो राम !
विधवा ब्राह्मणी भी हल जोतने लगी।
फाल उछल-उछल कर एड़ियों में लग जाती है, अहो राम !
रिमझिम बरसो, इन्द्र देवता,
पानी के बिना दुर्भिक्ष पड़ रहा है, अहो राम !
केवल धोबी के आँगन में गँदला और मैला पानी रह गया है,
उसी में सब ब्राह्मण स्नान कर रहे हैं, अहो राम !
उसी जल में वे धोती कचारते हैं, उसी में जनेऊ सोटते हैं,
उसी में रच-रच कर चन्दन लगाते हैं, अहो राम !
रिमझिम बरसो, इन्द्र देवता,
पानी के बिना दुर्भिक्ष पड़ रहा है, अहो राम !
मजूरों के बालक भूख से किलबिल कर रहे हैं
मालिक अपनी खत्तिओं को नहीं खोलते, अहो राम !
गाँव के पटवारी झूठ-मूठ लिख रहे हैं
मजूरों की मजूरी में वे गली-सड़ी खेसारी तोल रहे हैं, अहो राम !
रिमझिम बरसो इन्द्र देवता,
पानी के बिना दुर्भिक्ष पड़ रहा है, अहो राम !'

श्री राकेश लिखते हैं : "यह गीत मिथिला में वैशाख और जेठ महीने में, जब कभी पानी नहीं बरसता और दुर्भिक्ष की सम्भावना दीखती है, चाँदनी रात में गाया जाता है। इसे केवल बालिकाएं गाती हैं, और इसमें वर्षा के देवता इन्द्र की स्तुति की जाती है। जिस रात में स्तुति की जाती है, उसके सुबह में एक छोटी-सी बच्ची उपवास करती है। फिर वह रात्रि में ओखली पर बैठकर और दाहने हाथ में एक पवित्र जल पात्र लेकर इन्द्र का ध्यान करती है, क्योंकि उसका विश्वास है कि जब जलपात्र छलकने लगेगा तो दुर्भिक्ष मिट जायगा और वर्षा होगी।"

पंजाब में भी सावन या झूले के गीत यहाँ के स्त्री-गीतों में विशेष स्थान रखते हैं। सुख-सौंदर्य-प्रेम के इन तरानों की पृष्ठभूमि में जल-थल-आकाश का सौंदर्यबोध बार-बार थिरक उठता है। बार-बार मेघों से बातें की जाती हैं। एक गीत के आरम्भ की कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

बरसीं ताँ बरसीं मींहां मेरे बाबल दे देस,
होर वी बरसीं सौहरे क्यारिएँ।
बरसिया तों बरसिया बीबी तेरे बाबल दे देस
होर वी बरसिया बीबी सौहरे क्यारिएँ।

—'बरसना, बरसना, हे मेघ, मेरे पिता के देश में

और ससुराल की क्यारियों पर भी बरसना।'

'मैं बरस आया हूं, बरस आया हूं, हे कुलवधू, तेरे पिता के देश पर
और बरस आया हूँ, हे कुलवधू, तेरे ससुराल की क्यारियों पर भी।'

मेघ के साथ यह आत्मीयता लोकगीत की बहुमूल्य साधना की प्रतीक है। अब एक गीत चम्बा के पहाड़ी प्रदेश के सुखदुख की मर्मगत वाणी लिए हुए उपस्थित है—

गड़क चमक भाइया मेघा हो
बरह चमियालां दे देसां हो
कीहां गड़कां कीहां चमकां हो
सूरग भरोरा तारे हो।
कुथवे दा आई काली बादली हो
कुथवे दा बरसिया मेघा हो
छाती दी आई काली बादली हो
नैणां दा बरसिया मेघा हो।

—'गरज और चमक, अहो भैया मेघ!
चम्बा के देश पर वर्षा कर।'
'अहो मैं कैसे गरजूं, कैसे चमकूं?
अहो आकाश तो तारों से भरपूर है।'
'अहो कहाँ की काली बदली आई है?
अहो कहाँ का बादल बरस गया?'
'अहो वक्षःस्थल की काली बदली आई है
अहो नयनों का मेघ बरस गया।'

सिन्धी लोक-संगीत में भी मेघ का आवाहन एक चिर-नवीन पद्धति है। यहाँ तक कि सिन्ध के सूफी कवि शाह लतीफ की रचनाओं में भी इसकी प्रेरणा का समावेश नज़र आता है—

सारंग सार लहज अलहा लग उजन जी,
पाणी पवज पटन में अरज़ान अन्न करेज;
वतन वसाएज तस संघारण सुख थिए।
सारंग, साए सिट्ट जैहड़ी लाली लाख जी,
एन से उबन अग्या जिअसे चने चिट्ट;
बरस्यो पासे भिट्ट भरचाँ कुन्न किराड़ जा।

—'हे मेघ, अल्ला के लिए प्यासों की सार लो,
खेतों में पानी बरसा और अन्न को सस्ता कर

वतन को बसा ताकि सुख ही सुख हो जाय।

हे मेघ, एकदम बरस (ताकि हरियाली छा जाय), जैसे लाख की लाली होती है।

जो नंग-धड़ंग घूम रहे हैं वे भी वर्षा होने से भीगे हुए चनों की भांति फूल जायँ।

'भिट्ट' की ओर बरस ताकि बनियों के मटके अनाज से भर जायं।'

लोकगीत अपनी ही साधना से बड़ा है। अपनी ही प्रेरणा से महामहिम है। जिस प्रदेश में वर्षा कम होती है, वहाँ के लोक गीतों में वर्षा सम्बन्धी गीतों की रचना में कुछ भी कमी नहीं हुई। राजस्थान ही को लीजिये। यहाँ भी इन्द्र को बराबर निकटतम आत्मीय स्वजन की भाँति बुलाया जाता है। राजस्थानी गीतों की एक विशेषता यह भी है कि बादल के स्थान पर 'बदली' को विशेष महत्व दिया गया है। बादल आये न आये, छोटी-मोटी बदली तो अवश्य ही बरस सकती है। उत्तरी हवा और 'पुरवा बहिन' का अलग आवाहन किया गया है। इस प्रकार आप-से-आप 'गान गाने की कविता' के साथ-साथ 'चित्र देखने की कविता' की भी सृष्टि हुई है। 'पुरवा बहिन' का चित्र सुरक्षित है, भले ही 'पुरवा बहिन' को राजस्थानी युवतियों और पनिहारियों पर दया न आये। इस एकमात्र चित्र में राजस्थानी संस्कृति केन्द्रित हो गई है। जी कह उठता है कि ऐसे ही चित्रों से तो लोकगीत महामहिम है।

मेघों के साथ किसान का मिलनसूत्र जुड़ते ही चारों ओर का चित्रपट प्राणवान नज़र आने लगता है। मेघ किसान के मित्र हैं, भले ही वे देर से आयें या किसी कारणवश अधिक समय तक आतिथ्य स्वीकार न कर सकें। पावस ऋतु में हर कोई उनके शकुन मनाता है। 'चितरङ्ग' सरोवरों को मुंह तक छलकाने का सामर्थ्य मेघों के सिवा और किस में है? इन्द्र की गरज सुनने के लिए समस्त देश जागरूक दीखता है।

नवीन शिशु की भांति किसान की आँखें आकाश की ओर उठ जाती हैं, उसकी आत्मा में अपार आशा उमड़ती है। रेत में हल चलाया जा रहा है। यह सब आयोजन किस लिए है? इस निपुणता की कहाँ तक प्रशंसा की जाए? इसी रेत से अन्न उपजेगा। इन्द्र आख़िर इन रेत के टीलों को भुला तो नहीं देगा। यह मोठ-बाजरे का देश है। इसी मोठ बाजरे के कारण राजस्थानी लोकगीत महामहिम है।

राजस्थानी वर्षा-गीत सौंदर्यबोध और हृदयावेग के सजीव चित्र हैं—

१. बादलियो घररावै छै

बादलियो घररावै छै
आया आया जेठ असाड, ओ स्याम,
इन्दरियो घररावै छै
मेहां री भल आई, ओ स्याम,
बादलियो घररावै छै।

हलिया रो साज संवारो ओ स्याम,
इन्दरियो घरराबै छै ।
जेली रे दोय सीगा दिवाव
गंडासी रे मूं करवाव ओ स्याम,
इन्दरियो घरराबै छै ।
हाल सजाव ओ हलिया सजाव,
हलिया रे हाथ ली दिवाव ओ स्याम
बादलियो घरराबै छै ।
कुस मंगवाव चऊ घड़वाव,
वागड़ां री आड़ लगाव ओ स्याम,
बादलियो घरराबै छै ।
ओरणू सजाव वी झोलो सिमाव,
तो वीकाणै रा बीज मंगाव ओ स्याम,
बादलियो घरराबै छै ।
सौ बीघां में वावो अरड़ बाजरो
सौ बीघां में कोडयाली जवार ओ स्याम,
बादलियो घरराबै छै ।
सौ मन नियजै मोठ बाजरो
अड़की नियजै कोडयाली जवार ओ स्याम,
बादलियो घरराबै छै ।
मेहां री भल आई ओ स्याम,
इन्दरियो चरराबै छै ।

—'बादल गरज रहा है ।
आया, आया ज्येष्ठ आषाढ़, ओ श्याम,
इन्दर गरज रहा है ।
मेहो की ऋतु आ गई, ओ श्याम,
बादल गरज रहा है ।
हल का साज संवारो, ओ श्याम,
इन्दर गरज रहा है ।
'जेली' में दो सीग दिलवाओ,
'गंडासी' का मुँह करवाओ, ओ श्याम,
बादल गरज रहा है ।
'कसी' मंगवाओ, 'चऊ' बनवाओ,

'बाढ़' की आड़ लगाओ, ओ श्याम,
बादल गरज रहा है।
ओरण सजाओ, बीझोली सजाओ,
बीकानेर से बीज मंगवाओ, ओ श्याम,
बादल गरज रहा है।
सौ बीघों मे अरड़ बाजरा बोओ
सौ बीघों में कौड़ी-से दानों वाली ज्वार, ओ श्याम,
बादल गरज रहा है।
सौ मन मोठ-बाजरा पैदा हो
खूब कौड़ियाली ज्वार पैदा हो, ओ श्याम,
बादल गरज रहा है।
मेहों की ऋतु आ गई, ओ श्याम,
इन्दर गरज रहा है।'

२. मारू जी रै खेतां जावो वदली

मारू जी रै खेतां जावो वदली।
टीबां वरसो डैरयां वरसो,
तो चितरंग ताल छिलावो वदली
मारू जी रै खेतां जावो वदली !
जेठ उतरियो साढ उतरियो,
तो सावन उतरयो जाय वदली,
मारू जी रै खेतां जावो वदली !
सारै सारै दिन थारा सूण मणावै,
तो ऊभा जोवै थारी वाट वदली,
मारू जी रै खेतां जावो वदली
भागी दोड़ी जावो भागी दोड़ी आवो,
तो समदां सू जल भर लावो वदली,
मारू जी रै खेतां जावो वदली !
वादलिवां रो दल संग ले ल्यो,
तो दोय गेडा कर जावो वदली,
मारू जी रै खेतां जावो वदली।

—'प्रियतम के खेतों पर जाओ, हे बदली !
टीबों में बरसो, मैदानों में बरसो,

चितरंग तालाबों को ऊपर तक भर दो,
प्रियतम के खेतों पर बरसो हे बदली !
ज्येष्ठ बीत गया, आषाढ़ बीत गया,
सावन बीत रहा है,
प्रियतम के खेतों पर बरसो, हे बदली !
सारे-सारे दिन लोग तुम्हारे शकुन मनाते हैं,
खड़े होकर तुम्हारी बाट जोहते हैं, हे बदली,
प्रियतम के खेतों पर बरसो, हे बदली !
दौड़ती हुई जाओ, दौड़ती हुई आओ,
समुद्रों से पानी भर लाओ, हे बदली,
प्रियतम के खेतों पर बरसो, हे बदली !
बादलों का दल साथ में ले लो,
दो गोड़े (खेप) कर जाओ, हे बदली,
प्रियतम के खेतों पर बरसो, हे बदली !'

३. मारूजी झाला दियै वदली

मारूजी झाला दियै वदली !
म्हारे डैरां वरसण आव वदली,
मारूजी झाला दियै वदली !
बाईं मत जायै द्याखीयै मत जायै
तो सीधी म्हारे डैरा आयै वदली,
मारूजी झाला दियै वदली !
रीति मत आयै पाणी भर लायै
तो सूरया के संग आवै वदली,
मारूजी झाला दियै वदली !
होलै मत वरस्यै ठाढ़ां मत वरस्यै
तो दूधां झड़ी ए लगायै वदली,
मारूजी झाला दियै वदली !

—'प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !
हमारे खेतों पर बरसने आओ, हे बदली,
प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !
बाईं ओर मत जाइयो, दाहिनी ओर मत जाइयो,
सीधे हमारे खेतों पर आओ, हे बदली,

प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !
खाली मत आइयो, पानी भर कर लाइयो,
सूरया (उत्तरी हवा) के साथ आइयो, हे बदली,
प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !
धीरे मत बरसियो, वेग से मत बरसियो,
दूध की सी झड़ी लगाइयो, हे बदली,
प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !'

४. चनेयक चालो परवा भाण

चनेयक चालो परवा भाण !
मेहां री म्हां रै लग रही चाय,
चनेयक चालो परवा भाण !
दोय घड़ी जे रलको देद्यै तो
ताली भर ज्याय आंगण मांय,
चनेयक चालो परवा भाण !
दोय घड़ी जे रलको देद्यै तो
बंधिया पाड़ा पीवै ठांण
चनेयक चालो परवा भाण !
दोय घड़ी जे रलको देद्यै तो
छिल-छिल भर ज्याय सरवर ताल,
चनेयक चालो परवा भाण !
दोय घड़ी जे ईकलेग चालै तो
बोदी दुनिया सा जी ज्याय,
चनेयक चालो परवा भाण !

—'तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !
हमारे मेहों की चाह लग रही है,
तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !
जो तुम दो घड़ी के लिए रलका दे दो (चल पड़ो) तो
आँगन में तालाब भर जाय,
तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !
जो तुम दो घड़ी के लिए रलका दे दो तो
भैंस के बच्चे थानों पर बंधे-बंधे ही जल पी लें
तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !

जो तुम दो घड़ी के लिए रुक जा दो तो
सरोवर और तालाब ऊपर तक भर जायँ,
तनिक चलो हे पुरवा बहिन !
जो तुम दो घड़ी बराबर चलती रहो तो
यह फुसफुसी दुनिया फिर से जीवित हो उठे,
तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !'

५. सूरया उडी वादली ल्याई रे

सूरया, उडी वादली ल्याई रे !
झाला दे-दे तोय बुलाऊँ
तूं म्हारै देसां आई रे,
सूरया, उडी वादली ल्याई रे !
जेठ न आइये साढ़ न आइये
सावन अलबत आई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !
पग-पग पाणी पालर कर दे
तो सिर वादलियां छाई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !
पिणियारयां खुसियाली कर दे
घर मैं ताल भराई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !
पिणियारयां तोय धरां उडीकै
हाली खेतां माईं रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !
बूढ़ा ठेरा पून पिछाणै
तूं दोय भोलादे ज्याई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !

—'हे सूरया (उत्तरी हवा), उड़ना और बदली लाना !
हाथ के संकेत दे-दे कर तुझे बुलाती हूँ,
तू हमारे देश मे आना,
हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !
ज्येष्ठ में मत आना, आषाढ़ में मत आना
अलबत्ता सावन में आना,

हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !
पग-पग पर वर्षा का जल भर देना
सिर पर बदलियों को छा देना,
हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !
पनिहारियाँ घरों में तुम्हारी प्रतीक्षा करती हैं
और किसान खेतों में,
हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !
बड़े बूढ़े पवन की प्रतीक्षा करते हैं
तू दो झोले दे जाना,
हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !'

धरती के गीत जाग्रत जनता के प्रतीक हैं। इन पर गांवों, खेतों और खलिहानों की छाप है। इसमें जन्मभूमि की गौरवशाली और यशस्वी आत्मा की पुकार निहित है। इनमें एक विशाल संस्कृति का गर्वीला इतिहास अभिव्यक्त हुआ है। इनमे गति भी है, तीव्रता भी, और मर्म को छू सकने की शक्ति भी।

कला और जन-जीवन का निकटतम सम्बन्ध धरती के गीतो की विशेष पहचान है। जिस कला की जड़ें मातृभूमि की मिट्टी में टिकी होती है, उस कला का रंग और होता है, उसमें जनता की सामूहिक प्रतिभा और रचना का आभास मिलता है। कला की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि हम लोक-कला से परिचित ही न हों बल्कि इससे प्रेरणा भी लें।

प्रथम वर्षा के पश्चात धरती से उठने वाला सोंधा सौरभ धरती के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है। यही सौरभ जन्म-भूमि की कल्पना में सबसे अधिक सहायक है।

: ३ :

जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी प्रिय है। यह रामायण का सन्देश है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' यह धरती का अभिनन्दन है। धरती सब देखती है। विरोध नहीं चाहिए। सहयोग अच्छा है। शत-शत जनपद और सहस्र-सहस्र ग्राम इसी एकता के सूत्र में बंधते चले गए। जीवन और कला का गठबन्धन हुआ। धरती एक खुली हुई पुस्तक बनी। इतिहास-विधाता मेघगम्भीर स्वरों में धरती की गति-मति ही की गाथा सुनाने लगा। सहज ग्राह्य रूप से विशाल जनसमूहों और विस्तृत भूखण्डों को पढ़ने की महती चेष्टा अथवा धरती के साथ एक होकर प्राणवान् बने रहने का चिरंजीवी आदर्श साकार हो उठा। क्रौंच-मिथुनमें अहेरीके तीर द्वारा बाधा पड़ते देखकर बाल्मीकिको जो महान् कष्ट हुआ, वह इसी आदर्श का प्रतीक है। आदि कवि को परम्परा से हट कर नवीन छन्द मिल गया। कवि हृदय उन्मत्त हो उठा। छन्द के अनुरूप विषय नहीं सूझ रहा था। घूमते-घूमते कवि का नारद से साक्षात्कार हुआ। नारद बोले, 'ऋषिवर ! तुम्हें अमूल्य छन्द प्राप्त हुआ है। उसे व्यर्थ न गंवाओ। कुछ कर डालो।' कवि हैरान कि क्या लिखे। नारद ने यह बात सुझाई कि

अब तक देवताओं को मनुष्य बनाने की प्रथा चली आई है, तुम चाहो तो इस धरती पर उत्पन्न हुए मनुष्य को देवता बना सकते हो। यही रामायण के जन्म की गाथा है। इसी महान् ग्रंथ में बाल्मीकि ने जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी प्रिय सिद्ध किया। जननी और जन्मभूमि की अतुलनीय शक्ति पर चिरंजीवी आस्था। यही रामायण काल का इतिहास है, धरती का धारावाहिक इतिहास। मनुष्य की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग और रुदन-हास्य का चित्रण। एक देश। एक संस्कृति। शत-शत, सहस्र-सहस्र विचारों का एकीकरण। समस्त चिन्तनराशि का केन्द्रीकरण। एक निष्ठा, एक लगन कि जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी प्रिय हैं जिसकी पृष्ठभूमि में मानव ने देवता का स्पर्श किया।

महाभारत में पाण्डवों के दिग्विजय की गाथा देशप्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत है। दिग्विजय के अनन्तर युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। यह यज्ञ भारतीय इतिहास की चिर-स्मरणीय घटना है। इसमें योगदान देने के लिए तथा देश की सांस्कृतिक एकता का प्रदर्शन करने के लिए समूचे देश के छोटे-छोटे राजा तथा गणतन्त्र सम्मिलित हुए। पूर्वी अफगानिस्तान से लेकर बंगाल और सुदूर दक्षिण के विख्यात और बहूमूल्य उपहार यहां आये। सभापर्व के इस प्रकरण में देश की पैदावार और कला-कौशलों का बड़ा सजीव वर्णन है। इस काल मे एक छोर तक समस्त देश व्यापारिक और आर्थिक सूत्र में गुंथा हुआ था। राजसूय यज्ञ में उपहारस्वरूप कम्बोज (आधुनिक ताज़िक प्रजातन्त्र) से घोड़े, ऊनी वस्त्र, सुनहले काम किये हुए समूर और चमड़े; कार्पासिक (आधुनिक काफ़िरस्तान) से सुन्दर दासियाँ; भद्रोच से गान्धार के घोड़े; सिन्ध के पार बल्होचिस्तान से,जिसमें वैरामक, पारद, बंग, कितब इत्यादि जनसमूह बसते थे, बकरे, गाय, ऊंट, खच्चर, फलों की शराब, शाल और नमदे; प्राग्ज्योतिष (आधुनिक आसाम) से घोड़े' अश्मसार (संग यशब) के बने पात्र तथा हाथी दांत की मूठों की तलवारें; द्वच्य (बदख्शां), एक पाद (शायद कच्छ) और लालाटाक्ष (आधुनिक लद्दाख) से सुवर्ण और घोड़े; चीन, हूण, ओड्र (स्वात के एक प्रदेश का प्राचीन नाम), वृष्णि, हारहूर (हिरात), हैमवत (हिंदूकुश) से काली गर्दन वाले खच्चर; चीन और वाह्लीक (आधुनिक बल्ख) से ठीक नाप के खुशरंग मुलायम कपड़े, ऊनी वस्त्र, रंकु (पामीर) के बने पश्मीने, नमदे (कुट्टीकृत), मेमनों की खालें; सीमाप्रांत (अपरांत) से अच्छे शस्त्र; पूर्व भारत से बहूमूल्य आसन, यान, सुवर्णरत्न तथा हाथी दांत के काम वाली शय्याएं, नाराच और अर्धनाराच नाम के बाण, हाथी की झूलें; जरफशां नदी (शीतोदा) प्रदेशों से पिप्पलीक स्वर्ण; हिमालय की पूर्वी ढाल तथा बारिष (बारिसाल) के किरात देश से चमड़े, रत्न, सुवर्ण, चन्दन, अगरु और कालीन; बंग, कलिंग, ताम्रलिप्ति तथा पुंड्र से दुकूल, कौशिक, पत्रोर्ण, और प्रावार (चादर); तथा सिहल से मोती, समुद्र-सार, वैडूर्य, शंख और हाथी के रंगीन झूल आये।

महाभारत का कवि भीष्म पर्व के आरम्भ में भारत वन्दना के भावो से प्रेरित होकर कह उठता है—'प्रियं भारत भारतम्।' धृतराष्ट्र को सम्बोधन करके संजय कहते हैं—

'हे भारत! अब मैं भारतवर्ष की कीर्ति का बखान करूंगा। यह भारतवर्ष देवराज इन्द्र का प्यारा है। मनु वैवस्वत ने इसे अपनाया। आदिराज वैन्य पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मांधाता, नहुष, मुचकुन्द, औशिनर, शिबि, ऋषभ, ऐल, नृग, महात्मा कुशिक और गाधि, सोमक और दुर्द्धर्ष दिलीप, ऐसे अनेक बलशाली क्षत्रियों ने जिस भूमि को प्यार किया है, और सब जन भी जिसको प्यार करते है, उस भारत का वर्णन मैं तुमसे करता हूं।' इस भारत वन्दना में जिन राजर्षियों के अथवा चक्रवर्तियों के नाम आये हैं, वे सभी इस देश की धरती के उपासक थे। इसी धरती पर उनके रथ के चक्के मार्ग की कठिनाइयों की ओर तनिक ध्यान न देते हुए आगे-ही-आगे बढ़ते चले गए। उन्हें धरती का आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

पौराणिक युग में देश-प्रेम की भावना से मातृभूमि को स्वर्ग के आसन पर बिठाने के बजाय स्वयं स्वर्ग को झुक कर देश की धरती का स्पर्श करते हुए दिखाने की चेष्टा की गई। विष्णुपुराण (२। ३। २४) का रचयिता कहता है : 'सुना है कि देवता भी यह गीत स्वर्ग में गाते हैं—धन्य हैं वे लोग जो भारत भूमि में उत्पन्न हुए हैं। वह भूमि स्वर्ग से भी विशिष्ट है। क्योंकि वहाँ स्वर्ग और मोक्ष दोनों की साधना की जा सकती है। जो देवत्व भोग सकते है, वे मोक्ष के लिए पुनः भारतवर्ष में जन्म लेते हैं, जहाँ के आदर्श अपवर्ग की प्राप्ति मे कारणभूत हैं।'

देश के नामकरण के सम्बन्ध में डा० मोतीचन्द लिखते हैं : "भरत और भारत के अविच्छिन्न सम्बन्ध के मूल का पता हमें ऋग्वेदिक काल में मिलता है। ऋग्वेद के भरत आर्यों की प्राचीन शाखा थी जो सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच मे बसी हुई थी। भरतों द्वारा पूजित होने से अग्नि का एक नाम भारत पड़ा और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी का नाम भारती पड़ा। लगता यह है कि जैसे-जैसे 'भारत अग्नि' और 'भारती देवी' देश के भागों मे फैलती गई, वैसे-वैसे वे प्रदेश भारत के नाम से जाने जाने लगे और कालान्तर मे सारे देश के लिए भारत नाम रूढ हो गया।

"ब्राह्मण युग मे कुरु-पंचाल के क्षत्रियों मे भरत जन का सन्निवेश हो गया, लेकिन साथ-ही-साथ, जैसा पाणिनि की अष्टाध्यायी से विदित होता है, प्राच्य भारत नाम का एक जनपद उस युग में भी प्राचीन भारत का एक अवशेष बच रहा था। ब्राह्मणयुगमें भारत नाम की उत्पत्ति का आधार दौष्यन्ति भरत को माना गया है। इन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यमुनाके तट पर और पचपन गंगा के तट पर किये। ऐतरेय ब्राह्मण [८। २३] के अनुसार इस देश के किसी राजा ने इतने यज्ञ नहीं किये। राजनीति मे वह सबसे कुशल था और उसके पहले और बाद के किसी राजा ने अपने कामों में इतना यश नहीं पाया। भरत के बढ़ते हुए प्रताप की महिमा का वर्णन शतपथ ब्राह्मण [१३। ५। ३। १३] में भी आया है। इसके अनुसार सब पृथिवी को जीत कर—विजित्य पृथिवीं सर्वाम्—इन्द्र के लिए भरत ने बहुत से अश्वमेध यज्ञ किये। जान पड़ता है कि प्रतापी भरत दौष्यन्ति के अभूतपूर्व पराक्रम भार-

तीय जनता को इतने अच्छे लगे कि उसने अपने सबसे पराक्रमी राजा की यादगार बनाए रखने के लिए देश का नाम ही भारत रख दिया। जो भी हो इतना तो निश्चय है कि महाभारत के युग में भरत राजा और देशवाची भारत का सम्बन्ध निश्चित हो चुका था।"

पौराणिक युग में भारतवर्ष इस देश का सर्वप्रिय नाम था। समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण—यह इसका विस्तार था। एक अन्य स्थान पर वायुपुराण के लेखक ने जन्मभूमि की ओर संकेत करते हुए गंगा के प्रभवस्थान से लेकर कन्याकुमारी तक फैली हुई धरती की ओर उंगली घुमाकर आनन्द लिया है।

मनु और पातंजलि को मध्य देश और आर्यावर्त नाम प्रिय थे। उनके धर्मशास्त्र और महाभाष्य में इन्हीं की चर्चा सुनाई देती है। लौकिक संस्कृत और काव्य साहित्य में भी इन्हीं नामों की परम्परा मुख्य रही। गंगा यमुना की अन्तर्वेदी के लिए ही इन नामों का प्रयोग किया जाता था। अमरकोश का रचयिता हिमालय और विन्ध्याचल के बीच की धरती को पुण्यभूमि आर्यावर्त के नाम से सम्मानित करता है। निश्चय ही यह प्रदेश भारतीय संस्कृति में अग्रणी रहा होगा। इसके प्रति मनु की श्रद्धा इसी ऐतिहासिक तथ्य की प्रतीक है। गुप्त काल का इतिहास मध्यदेश का सन्देश दूर-दूर तक ले गया। डा० मोतीचन्द्र लिखते है : "काश्मीर राज्य के गिलगित स्थान से प्राप्त प्राचीन विनयपिटक की हस्तलिखित प्रति में सुन्दर विचार प्रकट किये गए हैं। मध्य देश का एक विद्यार्थी पढ़ने के लिए दक्षिणापथ में गया। वहाँ छुट्टी के दिन विद्यार्थियों में कौन कहाँ से आया है, इस पर चर्चा चल पड़ी। विद्यार्थी ने कहा, 'मैं मध्य देशसे आया हूँ।' इस पर उसके साथियों ने कहा, 'सब देश तो देखे सुने हैं, पर मध्य देश नहीं देखा। हे मानव कैसा वह मध्य देश है?' उसने उत्तर दिया—'हे मित्रो! मध्यदेश सब देशों का अगुआ है। वह ईख, धान, गाय भैंसों से भरा-पूरा है। वहाँ सैकडों भिक्षुओं के संघ घूमते रहते हैं। वहाँ दस्युजनों का पता नहीं है। वह देश आर्य-जनों तथा विद्वानों का घर है। वहाँ पुण्या मंगलकारिणी, पतित पावनी गंगा अपने दोनों ओर फूलोंको सींचती हुई बहती है। वहाँ अष्टावक्र ऋषि सब ऋषियों में अग्रणी हुए हैं। वह मध्य-देश-ऐसा है जहाँ तपस्या के बल से ऋषिगण सदेह स्वर्ग प्राप्त कर लेना चाहते हैं।"

ऋग्वेदीय सिन्धु शब्द देश के नामकरण की दूसरी धारा की ओर संकेत करता है। महान् सिन्धु नद के इस पार की धरती तो भारत की सीमा के अन्तर्गत है ही। इसके उस पार का भाग (महाभारत का 'परिसिन्धु' प्रदेश) भी किसी समय इस देश के अन्तर्गत गिना जाता था। इस 'परिसिन्धु' (पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान, बदख्शां, बलख़, ताज़िकस्तान तथा बलोचिस्तान) का इतिहास, जैसा कि महाभारत से स्पष्ट है, भारत के इतिहास के साथ गुंथा हुआ था, और यह सम्बन्ध ईसा की १० वीं सदी तक स्थिर रहा। सिन्धु से हिन्दु शब्द का रूपान्तर, जैसा कि डा० मोतीचन्द्र का कथन है, ईसा पूर्व छठी सदी में ईरान के बादशाह द्वारा सूसा के एक अभिलेख में हुआ है, जिसमें यह कहा गया है कि सूसा के महल

में पच्चीकारी के लिए हाथी दाँत हिन्दु देश से आया है। हिन्दुष् (सं० सिन्धु) और 'हिन्दुविआ' (सं० सिन्धुव्यः अर्थात् सिन्धु देश के रहने वाले), ये दो शब्द भी दारा के अन्य लेखों में आये हैं। पाणिनि और महाभारत से स्पष्ट है कि सिन्धु एक विशेष जनपद था जिसका विस्तार आधुनिक सिन्ध सागर दोआब में था। इस जनपद को 'सौवीर' (आधुनिक सिन्धप्रान्त) समझना ठीक न होगा। इसी सिन्धु जनपद के रूपान्तर से विदेशों में सारे भारत का बोध होने लगा। इसी आधार पर प्राचीन यूनानियों ने इस देश का इंडोस नामकरण किया। हिन्दोस्तान और इंडिया इसी परम्परा के प्रतीक हैं।

भारत का सम्बोधन माता के रूप में पहले-पहल कब हुआ? इस प्रश्न का उत्तर सहज नहीं। डा० मोतीचन्द्र लिखते हैं: "कला में भारतवर्ष के स्त्री-रूप की कल्पना बीसवीं सदी के राष्ट्रीय अभ्युत्थान की देन है; लेकिन आज से क़रीब दो हज़ार वर्ष पहले एक विदेशी कलाकार ने भारतवर्ष की कल्पना स्त्री-रूप में कर ली थी। एशिया माइनर के लंपकस नाम के प्राचीन स्थान में एक सुन्दर चांदी की तश्तरी प्राप्त हुई, जिसका समय ईसा की पहली अथवा दूसरी सदी है। यह तश्तरी भारतवासियों के लिए बड़े महत्व की है, क्योंकि इस पर भारतमाता का चित्र खुदा हुआ है। शिल्पी ने भारतमाता की कल्पना तत्कालीन एक संभ्रात रोमन महिला के रूप में की है, परन्तु उस स्त्री की वेश-भूषा भारतीय है। भारतमाता एक हाथी दाँत के बने आसन पर बैठी है। उसके उष्णीष से दो सींग जैसे निकले हुए हैं जिनके पोर से पता चलता है कि उनका तात्पर्य ऊख के टुकड़ों से हो सकता है। भारतमाता का दाहिना हाथ ख़ाली है और बाएँ हाथ में धनुष है। उसके दोनों ओर कुछ पशु-पक्षी अंकित हैं जो शुद्ध भारतीय हैं। भारतीय पशु-पक्षियों का व्यापार रोम के साथ एशिया माइनरके स्थल मार्गसे होता था, और लगता है कि इसी व्यापार की ओर कलाकार का संकेत है। भारतमाता के बाईं ओर हिमालय का चकोर पक्षी है और दाहिनी ओर एक सुग्गा। आसन के दोनों ओर बड़े-बडे कुत्ते हैं जिनकी कीर्ति यूनान तक पहुँच चुकी थी। कुत्तों की यह नस्ल रामायण [अयोध्या कांड ७०।११] के अनुसार कैकय [आधुनिक शाहपुर, झेलम]में होती थी। राजमहलों में ये कुत्ते पाले जाते थे; इनके दाढ़ बड़े होते थे और शरीर पुष्ट। बाघ की तरह इनमें बल होता था। आसन के सामने एक सिंह और तेंदुआ है। इनके रक्षक धोती, उत्तरीय और पगड़ी पहने हुए हैं।

"रोम में भारतमाता के चित्र की कल्पना का मुख्य उद्देश्य भारत के साथ रोम का व्यापारिक सम्बन्ध दिखलाना था। रोम के साथ भारतीय व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने के साथ रोम के लोगो का कौतूहल इस देश के प्रति बढ़ा होगा और उसी कौतूहल की तृप्ति के साधन स्वरूप उस देश में भारत सम्बन्धी अनेक कलात्मक चित्र बने होंगे जिनमें लंपकस की तश्तरी भी एक है। चित्र में भारतमाता की परिभाषा अर्थशास्त्र को लेकर की गई है, फिर भी वह एक सौष्ठव से पूर्ण है।"

स्वयं भारतीय कला में जन्मभूमि की कल्पना अभिव्यक्त है। इसका श्रेय गुप्तकाल

को है जब गंगा के प्रति मध्यदेश की समूची जनता की आस्था पूजा और तीर्थ यात्रा की भावनाओं से ओतप्रोत हो उठी थी। धरती और नदी के स्त्री-रूप की परम्परा इससे कहीं पुरानी होगी। भेलसा के समीप उदयगिरि की गुफा में मध्यदेश का चित्रण हुआ है। दाहिनी ओर गंगा बाईं ओर यमुना। दोनों वारिधाराएँ स्त्री रूप में क्रमशः कच्छप और मकर वाहनों पर खड़ी हैं। दोनों नदियों के बीच की धरती पर छः स्त्रियाँ, देश की आनन्दी जनता के प्रतीक स्वरूप बाजे बजाकर नाच गा रही हैं। आकाश पर एक देवता, हाथ में माला लिये, धरती की पूजा में तत्पर। गंगा यमुना का संगम। चित्र आगे बढ़ता है; अपार जलराशि; बीच में दोनों हाथों में पूर्ण कुंभ लिये हुए सुन्दर पुरुष-रूप सागर मूर्ति।

धरती के गीतों में भी जन्मभूमि की कल्पना सदा से चली आई है। इनमें व्यापकता नहीं, एकनिष्ठता है; प्रखरता नहीं, कोमलता है। एक खासी लोकगीत में आसाम की खासी पहाड़ियों को सम्बोधन करते हुए खासी जनता ने देश प्रेम का तराना छेड़ा है। पूर्वजों की अमर स्मृति ने जनता को सदैव स्फूर्ति दी है, और धरती के साथ उनका प्रेम सदैव बना रहेगा। यही आश्वासन इस गीत के एक-एक शब्द से झंकृत हो उठा है। कुर्ग के गीतों में इसे 'घरों और खेतों की धरती' के रूप में अभिनन्दित किया गया है। एक गीत में कहा गया है कि 'जैसे कावेरी की रेत बढ़ती चली जाती है ऐसे ही देश में धन-धान्य बढ़ते रहते हैं।' नेपाल के गीतों में हिमालय का चित्र उभरता दिखाई देता है—

हिमालै चूली के एती राम्रो
सरप को कॉचुली !

—'हिमालय की चोटी कितनी सुन्दर है
सर्प की केंचुली (के समान)·····'

सुन जस्तो नेपाल के राम्रो देख छ
स्वर्ग छ संसार माँ !

—'स्वर्ग जैसा नेपाल कितना सुन्दर दीखता है
यह संसार में स्वर्ग है।'

तीनै र सहर नेपालै ज्यान माँ
सुन को मकल

—'तीन ही शहर हैं प्रिय नेपाल में
स्वर्ण के चूल्हे (हैं वहां घर-घर)।'

तिरहुत की रूपरेखा भी देख लीजिए—

कोकटी धोती, पटुआ साग
तिरहुत गीत बड़े अनुराग
भाव भरल तन तरुणी रूप
एतबै तिरहुत हाइछ अनूप

—'कोकटी धोती, पटुआ साग, अनुराग के गीत, रूपवती तरुणी का भाव भरा सौंदर्य—इन्हीं के कारण तिरहुत अनूप है।'

गढ़वाली गीतों में मलेथ ग्राम का गीत जन्मभूमि का सीमित चित्र है। परन्तु ग्राम की पृष्ठभूमि में समूचे देश की संस्कृति नज़र आती है—

कैसो च भण्डारी तेरा मलेथ ?
देखी भाली ऐन सैवो मेरा मलेथ
ढलकदी गूल मेरा मलेथ
गाऊँ मूड़को घर मेरा मलेथ
पालंगा की बाड़ी मेरा मलेथ
लासणा की क्यारी मेरा मलेथ
गाइओं की गोठचार मेरा मलेथ
भैंसी को खुरीक मेरा मलेथ
बॉदू का लड़क मेरा मलेथ
बैखू का ढसक मेरा मलेथ।

—'कैसा है, ओ भंडारी, तेरा मलेथ ?
देखने में भला लगता है, साहबो, मेरा मलेथ
ढलकती जल धारा है—मेरा मलेथ
ग्राम की निचान में मेरा घर—मेरा मलेथ
पालक की बाड़ी—मेरा मलेथ
लहसुन की क्यारी—मेरा मलेथ
गउओं की गोठ—मेरा मलेथ
भैंसों की भीड़—मेरा मलेथ
युवतियों का झुंड—मेरा मलेथ
जवानों का धक्कमधक्का—मेरा मलेथ।'

जब व्रज भूमि की युवति गा उठती है तो इस जनपद के चित्र का चिरन्तन और चिर-नूतन रंग हमारा ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहते—

बिरज मण्डल देस दिखा दे रसिया
तेरी रे बिरज में कान्हां गऊ रे बहुत हैं
पी पी दूध भई पठिया। बिरज....
तेरी रे बिरज में कान्हां मोर बहुत हैं
कोहकत मार फटै छतिया।
बिरज मण्डल देस दिखा दे रसिया

पंजाबी गीतों में भी जन्मभूमि की प्रशंसा के स्वर ऊँचे उठ-उठ जाते हैं। जालन्धर की ओर का एक किसान युवक ग्राम की एक युवती से कहता है—

छड्ड के देस दोआबा
अम्बियाँ नूँ तरसेंगी

—'देश दोआबे को छोड़ कर
तुम आमों के लिए तरसती रह जाओगी।'

दोआबे के आम विख्यात हैं। ग्राम की युवती कदाचित् कहीं दूसरे जनपद के लिए प्रस्थान कर रही है। युवक उसे ठीक समय पर चेतावनी देता है। उधर लायलपुर के जँगली गीतों में अभी तक मरुस्थल की प्रशंसा के अवशेष मिलते हैं—

मैं जो तैनूं वे आखिया
थल विच्च बंगला पवा भला
निक्कियां निक्कियां बारियां
ते लग्ग पुरे दी वा भला।
मैं जो तैनूँ वे आखिया
थल विच्च खूआ खटा भला
डाचियां पाणी पी गइयां
तेतोड़े करदे दुवा भला।
मैं जो तैनूं वे आखिया
थल विच्च झुग्गड़ा पवा भला
बहूँ ते बहूँ मोकली
दो बन्दयां दी थां भला।

—'मैंने तुझे कहा था न
मरुस्थल में बंगला उसारो भला
छोटी-छोटी खिड़कियाँ हों
पुरवाई अच्छी लगेगी भला।
मैंने तुझे कहा था न
मरुस्थल में कूआं खुदवाओ भला।
ऊँटनियाँ पानी पी गईं
और ऊँटों के बच्चे दुआ दे रहे हैं भला।
मैंने तुझे कहा था न
मरुस्थल में झोंपड़ा उसारो
खूब खुली होकर बैठूँगी
दो बन्दों के लिए ही स्थान हो भला।'

पोठोहार (ज़िला रावलपिण्डी) के एक 'माहिया गीत में जन्मभूमि में काश्मीर का रूप और रस चखने की चेष्टा की गई है—

केही तुण तुण लाई होई ए
ढक्की उत्ते वसदे ओ
कश्मीर बणाई होइ ए।

—'कैसे स्वर बजा रहे हो
पहाड़ी पर बसते हो।
काश्मीर ही तो बना रखा है इसे।'

राजस्थानी लोकगीत में जन्मभूमि का चित्र अन्य गीतों की अपेक्षा सबसे अधिक सजीव और अर्थपूर्ण प्रतीत होता है—

वालो लागै छै म्हारो देसड़ो ए लो
कम कर जानूं परदेस वाला जो
ऊँचा ऊँचा राणे जी राणे जी रा गोखड़ा ए लो
नीचे म्हारे पीछोले री पाल वाला जो
बादल छाया देस में, हे लोय
नदियां नीर हिलोहिल रे
बादल चमकै बीजली
चमक चमक झड़ लाय।
सरवर पाणीड़े ने मैं गई ए लो
भीजै म्हारी सालूड़े री कोर वाला जो
वालो लागै छै म्हारो देसड़ो ए लो
केम कर जावूँ परदेस वाला जो।

—'मुझे मेरा देश प्रिय लगता है ए लो
हे प्रिय, परदेस कैसे जाऊँ ?
ऊँचे-ऊँचे राजा जी के गवाक्ष हैं ए लो
हे प्रिय, नीचे मेरे पिछोला तालाब का किनारा
देश में बादल छा गए
नदियों में जल हिलोरें ले रहा है
बादल में बिजली चमकती है
चमक-चमक कर झड़ी लगा देती है
मैं सरोवर पर पानी लेने गई ए लो
हे प्रिय, मेरे सालू की कोर भीग रही है
मुझे मेरा देश प्रिय लगता है ए लो
हे प्रिय, परदेस कैसे जाऊँ ?'

यह गीत उदयपुर का है। 'राणाजी के गवाक्ष' और 'पीछोला का किनारा'; इनसे

गीत की पृष्ठभूमि में एकनिष्ठता आ जाती है। परन्तु राजस्थान के अन्य जनपदों में तीसरे और चौथे चरणों को कभी-कभी बदल भी देते हैं—

ऊँचा ऊंचा मारू जी रा गोखड़ा ए लो
नीचे म्हारे सरवरिए री पाल वाला जो

इस प्रकार यह गीत एकांगी न होकर समूचे राजस्थान का प्रतीक बन जाता है। मरुभूमि की स्त्री की भावनाएं भी इन्हीं स्वरों में समा जाती हैं, जो दुर्भिक्ष के दिनों में भी अपनी जन्मभूमि को नहीं छोड़ना चाहती। दुर्भिक्ष तो सदा नहीं रहता। कभी तो देश में बादल भी छा सकते हैं। सरोवर में जल सूखने न पावे, यही यथेष्ट है।

धरती के गीत जन्मभूमि की कल्पना को कभी लोप नहीं करते। भले ही यहाँ भारतमाता का दो हज़ार वर्ष पुराना चित्र दिखाई न दे जो एशिया माइनरके समीप लंपकस नामक स्थान से मिली हुई सुन्दर चाँदी की तश्तरी पर खुदा हुआ है। भले ही यहाँ गंगा यमुना की धरती का वह चित्र जो भेलसा के समीप उदयगिरि की गुफा में गुप्तकालीन कला का एक सुन्दर उदाहरण है न दीखे। किन्तु 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की परम्परा धरतीके गीतों की प्राणशक्ति है। जन्मभूमि का एक-एक कण प्रिय है। एक-एक कण का एक-एक गान। जन्मभूमि की बहुत युगों की चर्चा से मूल-भावना घिस-घिस कर नष्ट तो नहीं हुई। एक ही आकाश एक ही धरती। अनेक मानव। परन्तु अनेकता में भी एकता की कमी नहीं। जन्म-भूमि की कल्पना में कुछ भी भिन्न नहीं रह जाता। जन्मभूमि प्रीति और चिन्तन चाहती है। इससे धरती प्राणवान् हो उठती है। जन्मभूमि का पूर्णरूप देखने के लिए समस्त मानव शक्तियों का विकास चाहिए। छोड़ो यह आधा-आधी। मिथ्या हैं सब बँटवारे। जन्मभूमि तो अखंड है। यही धरती का तकाज़ा है। विरोध नहीं चाहिए। सहयोग अच्छा है। यही धरती का दावा है। गिनती में जन्मभूमि का परिमाण नहीं, पूर्णता में ही उसका परिमाण है। बंधन-मुक्त जन्मभूमि ही सब को प्रिय लगती है, क्योंकि उसी रूपमें वह मानवता की महिमा वृद्धि कर सकती है। यही तो धरती का गान है जिसे वह आज भी गाती है।

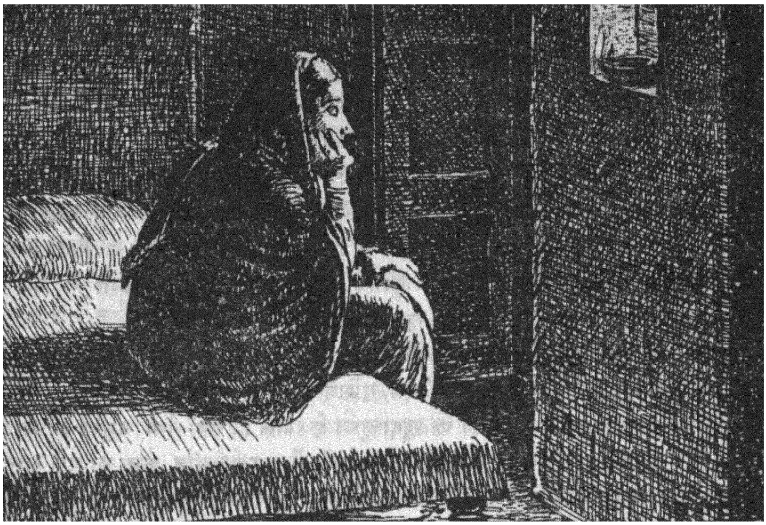

दीया जले सारी रात

यों वियोग के गीत मैंने अक्सर सुने थे। पंजाबी में ही नहीं, हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं में भी। बहुतों को मैंने बेहद पसन्द किया था। फिर मेरा विवाह हो गया, और वह भी एक तरकीब से, तो न जाने क्यों मेरी रुचि बदल गई। वियोग के गीत मुझे बहुत ज़्यादा पसन्द न आते थे। उनका पहला आकर्षण कहीं खोया गया हो जैसे।

हाँ, वह तरकीब भी बतादूँ जिससे मेरा विवाह हो गया। जगह-जगह की यात्रा के बाद दो-अढ़ाई साल घर से बाहर खानाबदोशी का-सा जीवन गुज़ार कर—मैं घर पहुंचा था। मैं तो इसे यात्रा ही समझता था, यह दूसरी बात थी कि पिताजी इसे निरी आवारागर्दी कह रहे थे। विवाह का प्रस्ताव इसलिए उठा कि मैं घर से बंध जाऊँ, खानाबदोशी से मुंह मोड़ लूं, दिल की तनावें बड़े प्रेम से अपने गांव के साथ बांध लूं। पिताजी की इस छिपी भावना को मैंने शुरू ही में भांप लिया था। मैंने विवाह के लिए हां कर दी तो घर भर में खुशी की लहर दौड़ गई। यह मैं जानता था कि विवाह के बाद मेरी ज़िम्मेदारी बढ़ जायगी। मुहब्बत कहती थी, अभी ज़िम्मेदारी की बात न छेड़ो। आर्थिक प्रश्न से जैसे मुहब्बत को कोई सम्बन्ध ही न हो। लम्बी यात्रा में मैं किसी साथी की ज़रूरत महसूस किया करता था। मुहब्बत की भावना ने मुझे जूआ खेलने पर उतारू कर दिया। जिस लड़की से मेरा विवाह होना पक्का हुआ, उसे मेरी मां देख आई थी। मैं जान लेना चाहता था उस लड़की के दिल का हाल। जब वह मुस्कराती है उसकी आंखों में कौनसी किरण

दौड़ जाती है, यह भी मैं जान लेना चाहता था। उसे किस तरह के स्वप्न आया करते हैं, यह प्रश्न बार-बार उठा, पर दिल की गहराइयों ही में बन्द रहा। माँ से तो ये सब बातें पूछी न जा सकती थीं। और यह भी तो मालूम न था कि मां इन प्रश्नों के उत्तर दे भी सकती है या नहीं।

एक आशंका एक दिन बादल की तरह उठी और धीरे-धीरे दिल के कोनों तक फैल गई। क्या वह अज्ञात लड़की यहां आते ही मुझ पर ऐसा जादू डाल लेगी कि मैं बाहर न जा सकूँगा, खानाबदोशी से मुंह मोड़ लूंगा? पीछे हटना भी तो सम्भव न था। आखिर मैंने यह सोचकर कुछ तसल्ली पाई कि शायद वह तितली की तरह पंख फैलाकर मेरे साथ-साथ उड़ा करेगी, मेरे साथ वह भी खानाबदोशी स्वीकार कर लेगी।

हां, तो वियोग के गीत की बात तो मै भूल रहा हूँ। विवाह के बाद एक दिन मैंने ससुराल में मनचली युवतियों को एक गीत गाते सुना। गीत बहुत करुण था, और श्रुति-मधुर भी। माटी के टिमटिमाते दीये के साथ-साथ जैसे स्वयं वियोग टिमटिमा रहा था। टेक पर पहुंचते हो कन्याएं अजब जोरदार ढंग से आवाज़ मिलाकर गाती थीं—

दीवा बले सारी रात, मेरया जाल्मा
दीवा बले सारी रात
बत्तियां बटा रखदी, मेरया जाल्मा
दीवा बले सारी रात।
आवेंगा तां पुच्छ लवांगी, मेरया जाल्मा
कित्थे गुज़ारी सारी रात।
बत्तियां बटा रखदी, मेरया जाल्मा
दीवा बले सारी रात।
आवेंगा तां बुझ्झ लवांगी, मेरया जाल्मा
कित्थे गुज़ारी सारी रात।
दीवा बले सारी रात, मेरया जाल्मा
दीवा बले सारी रात।

—'दीया रात भर जलता है, ओ मेरे ज़ालिम
दीया रात भर जलता है
बत्तियां तैयार करा रखती हूं, ओ मेरे ज़ालिम
दीया सारी रात जलता है।
तू आयगा तो मैं पूछ लूंगी, ओ मेरे ज़ालिम
कहां बिताई सारी रात।
बत्तियां तैयार करा रखती हूं, ओ मेरे ज़ालिम
दीया सारी रात जलता है।

तू आयगी तो मैं समझ जाऊंगी, ओ मेरे ज़ालिम
कहां बिताई सारी रात ।
दीया सत भर जलता है, आ मेरे ज़ालिम
दीया रात भर जलता रहता है ।'

दूर से जब मैंने यह गीत सुना, तो सोचा उधर ध्यान न दूं । पर मैं रह न सका । मुझे समीप आते देखकर कन्याओं ने गीत बन्द कर दिया । उनमें मेरी नव-विवाहिता पत्नी भी थी । गीत बन्द करने की सलाह राणो ने दी थी, यह मालूम होते देर न लगी । सभी सहेलियां आपस में उलझने लगीं ।

प्रसिन्नी ने कहा : "क्यों री राणो अब गाती क्यों नहीं री ? क्या तुम चाहती हो कि जीजाजी तेरी मिन्नतें करें ?"

पास से सुशीला बोल उठी : "हां, हाँ, तुम क्या समझती हो, प्रसिन्नी ? हमारे गीत क्या मुफ्त में आते हैं ?"

मेरा जी चाहता था गीत आरम्भ हो । सोचता था, दूर से ही क्यों न सुनता रहा । अब मिन्नत न करता, प्रशंसा के दो शब्द कह देता, तो भी शायद लड़कियां अपना गीत छेड़ देतीं । पर मैं इतनी हिम्मत भी तो न कर सका ।

जल्द गीत-महफिल बरखास्त होगई । काली-काली आंखें मुदीं और देखते-ही-देखते ओझल हो गईं । अब न राणो थी, न प्रसिन्नी, जिनकी आंखों में उनके दिल देखे जा सकते थे । प्रसिन्नी से भी अधिक राणो ही प्रिय थी । इसलिए नहीं कि वह गीत गाने में कोयल थी, इससे भी अधिक इसलिए कि वह भोली थी और आंख में दिल रखकर मुस्कराना जानती थी ।

यह गीत मैंने पहले भी सुना था, पर कभी मुझ पर इतना असर नहीं हुआ था । एक बार मैंने इसका अंग्रेजी में अनुवाद करने का यत्न भी किया था । अब मालूम हुआ कि उस समय मुझ पर इसकी आत्मा न खुल पाई थी । गीत क्या अनुवाद की वस्तु हो सकती है ? और फिर विरहिन के दीये वाला यह गीत !

राणो ने इसे किसी अछूती लय में गाया हो, यह बात नहीं । उसने कहो अच्छा तो मैं स्वयं गा लेता हूँ, और अक्सर गाया करता हूँ । फिर भी न जाने उस रोज़ राणो और उसकी सखियों की ज़बानी यह गीत सुनकर मुझ पर इसका इतना असर क्यों हुआ ?

ससुराल से वापिस घर आकर जैसे मैं और सब गीत भूल गया । मेरी पसन्द का एक ही विषय था और वह था विरहिन का दीया और उसका गीत । वियोग का यह गीत मेरे सारे जीवन पर छा जाने के लिए तैयार दीखता था ।

अपनी पत्नी को यह गीत सुनाने के लिए मैं बहुत कहता । वह शरमा जाती । उसकी आंख ऊपर न उठतीं । न हां, न नहीं । कुछ पता न चलता था कि वह किस शर्त पर यह गीत सुनाने के लिए तैयार हो सकेगी । मुझे हल्का सा गुस्सा भी आ जाता । अंगाज, गुज-

रात और महाराष्ट्र में मैं एकदम अपरिचित लोगों से गीत सुन आया था। और यहां मैं अपने घर से गीत सुनने में असफल हो रहा था।

फिर एक दिन मुझे वह गीत पास आता दिखाई दिया। ऐसे अवसर पर मेरी आंखें ललचा जाती हैं। चाहता हूँ अपना दिल छाती से निकाल कर आंखों में रख लूं। "अब छोड़ो भी यह लाज" मैंने उसे अपनी ओर खींचते हुए कहा।

वह झिझक कर बोली : "मैं तो खुद चाहती हूं कि लजाऊं नहीं।"

मैं समझ गया कि अब सफलता दूर नहीं। बोला, "तो फिर मिल जाय सुनने को वही विरहिन के दीये वाला गीत।" पर वह कोई दूसरा ही गीत सुनाने के लिए तैयार हुई थी। था वह भी विरहिन का गीत। मैंने कहा—"अच्छा सुनाओ वही गीत।"

गीत शुरू करते-करते वह शरमा चली थी। काफ़ी गहरा गीत था। पांच दरियाओं के देश की किसी हीर या सोहणी का करुण गीत था—

औह गये सज्जन औह गये
लंघ गये दरिया
असाँ रज्ज गल्लां न कीतियाँ
साडे मनों न लत्थड़ा चा !

—'वह गया प्रीतम, वह गया
वह दरिया के उस पार चला गया
न हमने जी भर कर बातें कीं
न हमारे मन का चाव पूरा हुआ।'

यह स्त्री का गीत था और स्त्री ही ऐसा असर पैदा कर सकती थी। यह वह भी जानती थी कि मैं विरहिन के दीये वाला गीत न छोड़ूंगा, न इसकी जगह कोई दूसरा गीत ले सकेगा।

फिर कई-कई दिन तक मैंने गीतों की बात छेड़नी ही बन्द कर दी। अपने गाँव से लाहौर आकर भी मैंने यही तरीका जारी रखा। आशा कहती थी, कभी न कभी मेरी पत्नी जरूर विरहिन के दीये वाला गीत गा उठेगी, पर प्रतीक्षा को यों ही थक जाना पड़ा।

फिर लाहौर से वापिस गांव में आकर भी मुझे वह गीत सुनने को न मिला। अब मुझे शीघ्र ही बाहर यात्रा पर जाना था। पिताजी ने लाहौर रहने की मंजूरी भी बड़ी मुश्किल से दी थी। मैंने किसी दिन चोरी से लम्बी यात्रा पर भाग जाने की ठान ली थी। पिताजी ने सोचा था कि लाहौर में कुछ मास पत्नी सहित रह कर और गरीबी के कड़े दिन काट कर अब मैं घर पर आराम से रहने का निश्चय कर लूंगा, और फिर धीरे-धीरे वे मुझे अपने साथ नहर पर ठेकेदारी का काम सुपुर्द कर देंगे। उन्हे शायद मालूम न था कि लाहौर में इन चन्द महीनों में पेश आने वाली कठिनाईयोंको मैंने खुशी-खुशी झेल लिया था। इससे कहीं अधिक कठिन दिन तो मैं अपनी पहली यात्राओं में देख चुका था। गरमी की

छुट्टियों में एक बार कालेज से वापिस आकर जब मैंने काश्मीर जाने की ठानी थी और पिताजी से इजाजत नहीं मिली थी, तब मैं चोरी ही काश्मीर के लिए चल पड़ा था। उन दिनों बेटिकट सफर करने का हौसला भी कितना बलवान था। और फिर तीन मास जो काश्मीर में सैर की थी, उधर के गीत सुनने के लिए जो फ़कीरी धारण की थी, वह लाहौर के इस ताज़े ग़रीबी के जीवन से कहीं अधिक सख्त थी।

पहली यात्रा में मैं अकेला ही था। जैसा जीवन स्वयं चुना था, उसमें पेश आनेवाले सुख-दुःख को अपनी चीज़ समझ कर मस्त रहता था। पर अब मेरा विवाह हो चुका था। यदि मैं चाहता भी कि अपनी पत्नी को यात्रा पर साथ ले जाऊं, तो पिताजी कभी आज्ञा न देते, और यदि एकदम क्रुद्ध होकर कह भी देते कि जा करले अपनी मनमानी, तो भी शायद मैं पत्नी को बाहर ले जाने के लिए तैयार न होता। नवविवाहिता संगिनि से बिछुड़ना मेरे लिए एक कड़ा प्रश्न था, पर पैर का चक्कर जोर मार रहा था।

"तुम्हारे बेटे के पैर में 'चक्कर' है। वह कहीं एक जगह टिक कर न बैठ सकेगा। पैर का चक्कर बहुत जबरदस्त होता है और जिसके पैर में कुदरत ने चक्कर डाल दिया हो उसे बस बिन पँख का पँछी समझो। वह उड़ता है और दूर-दूर की हवा खाता है।" इन शब्दों के साथ एक ज्योतिषी ने मेरी माँ को चिन्ता में डाल दिया था। यद्यपि वह ज्योतिषी यह भविष्यवाणी न कर सका था कि मुझे लोकगीतों के लिए पंछी बनना पड़ेगा, तो भी माँ मन-ही-मन में उस ज्योतिषी की जादू-बयानी का सिक्का मान रही थी।

सोचा था, अबकी यात्रा में कोई ऐसी तरकीब अवश्य निकाल लूँगा, जिससे मै सदा पत्नी-सहित यात्रा करने का उपाय कर सकूँ। विवाह ने मेरा दृष्टिकोण बदल दिया का। 'पैसा चाहिए पैसा'—यह आवाज़ थी जो मेरे हृदय पर अपना प्रभाव डालती रहती। बेटिकट सफर की बात कभी की खतम हो गई थी। अब तो अपने पैरों पर खड़ा होने का सवाल था। नौकरी न करने की मैंने कसम खा रखी थी। फिर पैसा कहाँ से आये? पत्रों में लोक-गीतों पर कुछ लिख कर अधिक पैसा पैदा करना कठिन है, यह मै जानता था। और अब तक मुझे कभी यह बात भी तो न सूझी थी कि मै ये गीत क्यों संग्रह कर रहा हूँ। बचपन ही में यह शौक लग गया था। हाईस्कूल में यह दबने की बजाय बढ़ता ही गया। कालेज का जीवन भी इसे मार न सका। और ज्यों ही मैंने देखा कि कालेज का वायु-मण्डल मेरे स्वभाव के विरुद्ध है, मै भाग निकला और लगा घूमने और गीत संग्रह करने। अब जब गीतों पर लिखने का विचार हृदय की धरती में नित हरा होने लगा तो जैसे गीतों के सम्बन्ध में मेरा शौक और भी बलवान हो गया। लेखों से अधिक पैसा न आये तो न सही, जितना आयगा उसीसे गुजारा करेंगे। देश के पत्रों में लिखना चाहिए और विदेश के पत्रों में भी। यह फैसला धीरे-धीरे जड़ पकड़ता गया।

एक बात और भी तो थी। कुछ मास अपनी पत्नी के साथ गुज़ार कर मैंने अभी वह बात पैदा न की थी कि वह लम्बी यात्रा पर मेरी फ़कीरी में शामिल हो सकती। वियोग

का आने वाला ज़माना मुझे साफ दिखाई दे रहा था। चोरी से एक दिन निकल भागने की बात मैंने डर के मारे नहीं बताई थी। इन दिनों खास कर विरहिन के दीये वाला गीत सुनने के लिए मैं तरस रहा था।

जिस दिन प्रभात से दो-तीन घंटे पहले ही जाने की ठान रखी थी, उससे पहली रात चौबारे में बैठकर मेरी सरल-हृदय पत्नी ने एक दूसरा ही गीत सुना दिया। यह गीत पँजाब की किसी स्त्री ने रण-भूमि में जाने वाले पति को सम्बोधन करके गाया था।

जे उठ चल्लियों चाकरी,
नीले घोड़े वालिया!
सानूँ बोजे पा।
जित्थे ते आवे रातड़ी
नीले घोड़े वालिया!
कडढ कलेजड़े ला।

—'यदि तुम जंगी नौकरी पर चल पड़े हो,
ओ नीले घोड़े वाले!
मुझे अपनी जेब में डाल लो
जहाँ कहीं रात पड़ जाया करे
निकाल कर हृदय से लगा लिया करना।'

न मैं कहीं युद्ध पर चला था, न मेरे नीचे नीला घोड़ा ही था। मुझे न जाने क्यों यह महसूस हुआ कि यह गीत मेरे लिए ही बना था। पर दिल तो ललचा रहा था विरहिन के दीये वाला गीत सुनने को।

डलहौजी के पहाड़ी गाँव मुझे बहुत पसन्द आये। माँ के मुख पर जो रौनक और जो वात्सल्य की विश्वासमय रंगत होती है, वह पहाड़ के एक-एक झोंपड़े में देखने को मिली। पहाड़ी आबादी मैदानी प्रदेशों से कितनी भिन्न थी। चम्बा के गद्दी चरवाहे जो तराने छेड़ते थे वे केवल पहाड़ों और उपत्यकाओं में ही गूंज कर रह जाते हों, यह बात न थी। उनके गीत खेतों की तरह सादा और घर की रोटी की तरह अच्छे थे। और गद्दियों के स्वदेश प्रेम का तो मैं झट कायल हो गया। 'भगवान् मुझे अगले जन्म में भेड़ बकरी भी बनाए तो मुझे चम्बा में धौली धार के समीप ही जन्म दे तो उत्तम हो'—एक गद्दी ने कोई पुराना गीत खत्म करते हुए बता दिया था। धर्मशाला और पालमपुर की सैर भी काफी मनोहर रही। फिर मण्डी होता हुआ कुल्लू पहुँचा तो मैंने देखा कि मेरी लेखनी जोर-जोर से चल रही है। फ़ोटोग्राफ़ी का शौक अलग उभर रहा था। कुल्लू से पैदल शिमला पहुंचा। और फिर शान्तिनिकेतन होता हुआ सीधा आसाम पहुँच गया।

आसाम में मेरा ध्यान खींचने के लिए बहुत सामान थे। पर था तो मैं एक वियोगी ही। गीत लिखते-लिखते कभी घर का ख़्याल आजाता तो दिल पीछे हटता नज़र आता।

पिताजी का पत्र अलग आता। पत्नी का पत्र अलग आता। शुरू-शुरू में पत्रों की बातें अधिक उदास करने वाली न थीं। फिर इनका करुण प्रभाव सहारना बहुत कठिन हो गया। और मैंने उत्तर देना छोड़ दिया।

मेरी डाक पहले गोहाटी में सदानन्द की मार्फत आती थी। फिर जहां मैं होता वहां लौटाई जाकर मुझ तक पहुंचती। मैंने गोहाटी में सदानन्द से कहला दिया था कि वह मेरी डाक पूरे एक मास तक अपने पास रखकर मेरे पास भेजा करे। पिताजी ने मुझे पत्र लिखना छोड़ दिया। पत्नी बराबर लिखती रही। और मैं तीन-तीन चार-चार पत्रों का उत्तर एक ही बार देता।

फिर मैंने देखा कि वह पत्रों मे मुझे गीत भेजने लगी है। मैंने सोचा, यह अच्छी बात हुई, अब विरहिन के दीये वाला गीत वह अपनी लेखनी से एक दिन अवश्य लिख भेजेगी। पर दूसरे गीत पहुंचते रहे, वह न पहुंचा।

आखिर बड़ी लम्बी प्रतीक्षा के बाद एक दिन वह गीत भी आ ही पहुंचा। पहले पत्र अलग होता था और गीत अलग। इस बार केवल गीत था, पत्र बिलकुल था ही नहीं।

अगली सुबह ही मैं गोहाटी के लिए चल पड़ा। सदानन्द को मैंने 'दीया जले सारी रात' की कहानी सुनाई। वह शायद इसे समझ ही न सका, यों ही हंस दिया। उसे हँसते देखकर मुझे भी हंस देना पड़ा।

पूरे डेढ़ वर्ष बाद मैं घर लौटा। मुझे आशा थी कि अब मेरी पत्नी ज़रूर मुझे वह गीत सुना देगी। पर वह राज़ी नहीं हुई। बात उसकी ठीक थी—"पूरे डेढ़ वर्ष विरहिन का दीया जलाकर तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही हूँ। अब मैं विरहिन नहीं। विरहिन का गीत कैसे गाऊँ?"

पिछले सप्ताह मैं एक मित्र के साथ सैर करने निकला, तो मुझे अपने जीवन की यह कहानी याद आ गई। 'दीया जले सारी रात' ये शब्द मेरे हृदय पर छा गए।..... ज़ालिम प्रीतम, तुम आते ही नहीं। रात भर मेरा दीया जलता रहता है।.....न जाने कितनी बत्तियां जल जाती हैं। तुम आते ही नहीं।.....तुम आते ही नहीं, ज़ालिम प्रीतम.....मेरे मित्र को यह गीत बहुत पसन्द आया। उसने इस गीत पर कुछ लिखने की इच्छा प्रकट की। मैंने कहा—माटी के दीये को तुच्छ न समझना।

मुझे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता याद आगई—'अस्त होते सूर्य ने कहा—क्या कोई है जो मेरे पश्चात् मेरा कार्य कर सके? माटी का दीया सिर उठाकर बोला—यत्न करूंगा।'

मैंने ज़ोर देकर कहा—"और इससे क्या फ़र्क पड़ जायगा। तुम भी लिखो, मैं भी लिखूंगा।"

"तुम लिखोगे तो मै अपनी अधूरी कविता तुम्हारे सामने ही फाड़ डालूंगा।"

"मैं लिखूं भी तो तुम्हारी कविता को कोई चोट न पहुंचेगी। उलटा मुकाबले में आकर तुम्हारी रचना चमक उठेगी।"

"नहीं भाई, नहीं, मैं यों नहीं मानने का।"

उसे खुश करने के लिए मैंने कह दिया—"अच्छा, मैं नहीं लिखूँगा।"

खुश होकर वह इस गीत पर पूरे आध घण्टे तक लेक्चर देता रहा—ठीक उसी तरह, जिस तरह कालेज में कोई प्रोफेसर कविता पढ़ाता है, 'यह उस स्त्री का गीत है जिसके जीवन की एक-एक घड़ी इन्तज़ार की घड़ी है...।' मैं सोच रहा था, क्या कोई गीत लेक्चर का मोहताज हो सकता है।

पर और तो और, मेरे मित्र की कविता का अब क्या बनेगा? मैंने तो अपना दीया जला ही दिया। अच्छा हो, यदि मित्र का दीया भी जले। मैं डरता ज़रूर हूं। कहीं मुझे अपने वचन से फिरा देखकर वह कल को यह न कह बैठे—लो भई मेरी कविता, इसे तुम अपने हाथों से फाड़ डालो।

आसाम-यात्रा के बाद भी मैं वही पुराना यात्री हूँ। पँख नहीं तो न सही, दिल तो है। और पैर में चक्कर का जोर भी है। अब मेरी पत्नी मेरे साथ रहती है। यात्रा ही में हमें एक तीसरा साथी भी मिल गया है। वह है कविता—हमारी पुत्री।

विरहिन के दीये वाले गीत से कहीं अधिक सुन्दर गीत मैंने सुने है, तो भी मन है कि उस माटी के दीये की ओर दौड़ता है। न मैं वियोगी हूँ, न मेरी पत्नी ही वियोगिन है। फिर भी हम दोनों न जाने क्यों इस गीत को गाने लगते हैं।

बहुत दिनो से सदानन्द नहीं मिला। बहुत खोज की है। वह मिल जाय, तो उसे यह गीत गाकर सुनायें। तब मैं उससे पूछूं कि आसाम में वह इस गीत से सम्बन्धित मेरी कहानी सुनकर यों ही मूर्ख की भांति क्यों हंस दिया था।

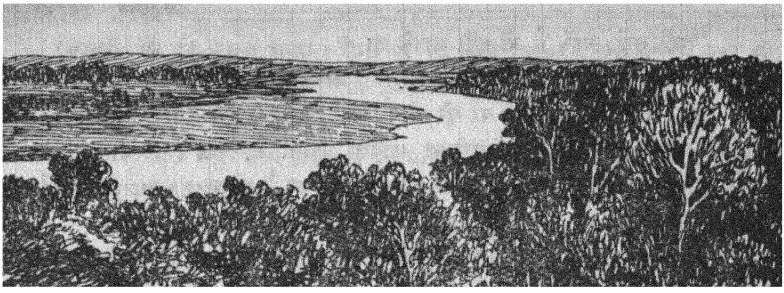

ईरावती

: १ :

आकाश पर शाम की लाली और धरती पर खामोश ईरावती । यह नज़ारा मुझे मगन रखता है । चित लेटी हुई रेत पर मैं भी लेट जाता हूं । सौ नज़ारों का है एक नज़ारा, ईरावती का किनारा ।

सदियों से वह इसी तरह बह रही है । वह इस देश की माँ है । लोगों के क़हक़हों की अमानतदार है । उनका इतिहास भी उसे याद होगा । याद नहीं आ रहा कहां पढ़ा था कि आनन्द और चिन्ता के भाव हममें साथ-साथ रहते हैं । कोई उन्हें अलग-अलग नहीं कर सकता । कब और कैसे वे एक-दूसरे की जगह ले लेते हैं, कुछ पता नहीं चलता । इन लोगों ने इन भावों को अलग-अलग करना सीख लिया है । जिधर देखो, हंसते हुए मुखड़े । लोग तो मैंने बहुत देखे हैं, घाट-घाट का पानी पिया है । इतने खुश लोग पहले देखे भी हों, तो याद नहीं आ रहे । इतनी भी क्या खुशी है ?

पाल की तरह बाजू फैला कर मैं नाचने लगता हूं । फिर रेत पर खुद ही गिर पड़ता हूँ । सदियों से रेत यहाँ मौजूद है । सदियों से ईरावती आदमी को शान्ति देती आई है । यह वातावरण मुझे पसन्द है । जीवन होना चाहिए नदी की तरह, खुली और आज़ाद ईरावती की तरह ।

अच्छा होता कि रंगून से मांडले तक ईरावती के पानियों पर सफ़र किया होता । इसमें पूरे सात दिन लग जाते हैं । पर मैं रेलगाड़ी पर यहां पहुँचा । ईरावती मैंने पहली बार यहीं देखी ।

काका कालेलकर के शब्द मेरे मन में गूंज उठते हैं—"ईरावती कहें या ऐरावती ? मेरी समझ में, इस नदी का नाम इरा नाम की घास पर से ऐरावती पड़ गया है । इसके किनारे की पुष्टिकारक घास चरने वाले मस्त हाथी को ही ऐरावत कहते होंगे । या फिर इन्द्र के ऐरावत की तरह बड़े डील-डौल वाली और मत्त गजेन्द्र गति से चलने वाली इस नदी को देखकर किसी बौद्ध भिक्षु को सूझा होगा कि बस इस नदी को हम ऐरावती

कहेंगे.....ईरावती कहीं हिन्दुस्तान में होती, तो संस्कृत-कवियों ने इसके वर्णन में ईरावती जितना लम्बा-चौड़ा काव्य-प्रवाह बहा दिया होता···।"

सारी नदियाँ पहाड़ों से निकलती हैं और उपत्यकाओं तथा मैदानों को पार करती हुई सागर की तरफ भागी चली आती हैं। ईरावती भी दूर पहाड़ों से आती है।

"ईरावती का निकास यहां से कितनी दूर है ?"

"सात सौ मील।"

"तो फिर यह तेरह सौ मील लम्बी नदी है ?"

"जी हां।"

पहले-पहल जब ईरावती पहाड़ों की गोद से निकल पड़ी थी, तब वह क्या जानती थी कि आगे चलकर 'माइका' और 'मालिका' उसे अपना पानी देकर दूर-दराज़ सफ़र पर धकेल देंगी—तेरह सौ मील दूर ! शुरू में कोई नदी यह जानने की परवाह नहीं करती कि उसे कितनी दूर जाना है। वह बहने लगती है। यही उसका जीवन है।

दूर से किसी के गीत की आवाज़ मुझ तक पहुंचती है, जैसे ईरावती कह रही हो—ये गीत और कहां मिलेंगे ? सच कहती है। अभी क्या जल्दी है ? मैं फिर बैठ जाता हूँ।

खुदा हाफ़िज़, ईरावती कल फिर सही।

मैं ईरावती से इतना प्रभावित होता हूँ। पर क्या खुद भी ईरावती को प्रभावित कर सका हूँ ? पैर जल्दी से नहीं उठते। जाना तो होगा। ठिकाने पर मेज़बान बाट जोह रहा होगा। ईरावती कुछ नहीं बोलती। बोले भी क्या ?

: २ :

उषा का नज़ारा भी मुझे मगन रखता है। अब सदानन्द भी मेरे साथ ईरावती के किनारे चला आता है। वह भी मेरी तरह एक आवारा पंछी है। ईरावती गुनगुना रही है। जो कहना है, सब कुछ कह ले, ईरावती।

सदानन्द कहता है—"आराकान और पीगूयोमा के पहाड़ ईरावती के पुराने संतरी हैं।"

मैं कहता हूँ—"सारे पहाड़ धरती के आत्माभिमान के सूचक हैं, आराकान और पीगूयोमा भी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहीं लिखा है—

—'गीत अलापती हुई नदी तेज़ दौड़ती है—सारी रुकावटों को लांघती हुई। पर पहाड़ नदी की याद में खोया हुआ खड़ा रहता है और उसका प्यार नदी की तरफ लपकता रहता है।'

मैं तो समझता हूँ कि आराकान और पीगूयोमा दोनों ईरावती के प्यार में खोये हुए इसी तरह खड़े रहेंगे।

"रंगून की तरफ़ जाने से पहले कौन सा स्थान आता है ?"

"अमरापुर।"

"अमरापुर के बाद ?"

"आभा।"

अमरापुर और आभा दोनों ऐतिहासिक स्थान हैं। इनके बाद मिंजिआन बन्दरगाह आती है। यह उपत्यका किसी ज़माने में रण-भूमि रह चुकी है। यह पोकूच शहर से कुछ ही मील दूर है, जहां छिंदविन नदी ईरावती में मिलती है। शान लोगों के इलाके से आने वाली छिंदविन एक ग़रीब स्त्री की तरह अपना आप लुटा देती है। और ईरावती ठहरी पक्की सरमायादार! फिर पीगान आता है। यह पुराना शहर है। हज़ारों पैगोडों के खंडहर इसकी बीती हुई कहानी सुना रहे हैं। इस के बाद स्टीमर नाऊँला पहुंचता है। समीप ही मिट्टी के तेल के कुएं हैं। अंग्रेज़ और अमरीकन सरमायादारों ने इसमें बहुत रुपया कमाया है। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ शान्त और गंभीर बुजुर्गों की तरह खड़े हैं। सारा वातावरण किसी गहरी सोच में खोया हुआ मालूम होता है। इसके बाद स्टीमर क्रम से मिंचू, जायटामिऊ और प्रोम पहुँचता है। प्रोम के बाद ईरावती कई शाखाओं में बंट कर सागर से जा मिली है।

मै सदानन्द के साथ कई बार झगड़ चुका हूं। उसी के कहने पर मैं रेल के रास्ते यहां पहुंचा। आगे का सफर रेल पर करने से बाज़ आया। यों हमारा सफ़र नीरस नहीं रहा। हर छोटे-बड़े स्टेशन पर हम दो-दो तीन-तीन दिन ठहरते हुए यहां पहुंचे थे। परिचय-पत्रों का सिलसिला बराबर चलता रहा। रँगून से तो अगले स्टेशन के लिए एक पत्र मिला। हमारे मेज़बान ने खूब खातिर की तो मैं समझ गया कि पत्र में हमारी सच्ची-झूठी तारीफ़ के पुल बांधे गए थे। इसी तरह यह आतिथ्य हमें हर जगह मिलता रहा।

सदानन्द सन्यासी है। मैं उसका सत्कार करता हूँ। सोचता हूँ कि वह सन्यासी कैसे बन गया। पूर्व बंगाल मे वह एक दरिया के किनारे पैदा हुआ था। वह बताता है कि उसका बचपन उस दरिया के साथ उसी तरह जुड़ा हुआ था, जैसे अब मै ईरावती के साथ जुड़ गया हूं। फिर एक तरह की आवारगी के विचार ने उसे घर छोड़ने के लिए उभारा तो वह चल पड़ा। पर वह सन्यासी कैसे बन गया? सत्य की खोज के लिए? नही तो।

"किसी नदी के निकास तक हो आना किसी सत्य की खोज से कम नहीं।"

"ठीक कहते हो।"

"यहां से भामो तक कितने दिन लगते हैं?"

ईरावती का पाट तंग होने लगता है। किनारों पर सागवान ही सागवान नज़र आते हैं। घने जंगल हैं। परे पहाड़ सर उठाए खड़े हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—

—'वृक्ष, जो धरती की बेकरार आकांक्षाएं हैं, पंजों के भार खड़े आकाश की तरफ देख रहे—'हैं।'

क्या इस देश के सागवानों पर भी यह बात लागू होती है? ये वृक्ष तो काट डाले

जाते हैं—कोई पहले, कोई पीछे। कोई इनका हमदर्द नहीं, रक्षक नहीं।

मांडले से चलकर सिनगुन और थाबीटाकिन शहर आते हैं और फिर मोपक, जहां लाखों की खाने हैं। आगे भामो है। और आगे स्टीमर सिर्फ बरसात में जाता है और वह भी मिटकिना तक। भामोसे मिटकिना तक संपान(छोटी किश्ती)भी मिलती है। पर पानी तेज़ है,बहाव के प्रतिकूल चलना आसान नहीं। मिटकिना से मोटर मिलती है। यहां से आठ मील पर माइका और मालिका नदियां ईरावती में मिलती हैं। ईरावती का निकास भी यहां से कोई दूर नहीं।

"स्टीमर सीटी दे रहा है। चलो, टिकट ले लें, स्वामी जी!"

"आज नहीं।"

मुझे गुस्सा आ रहा है। हर रोज़ 'आज नहीं' की रट। उसके पास किराया नहीं। पैसे मेरे पास भी मुश्किल से एक टिकट जितने होंगे। पर किसी बीच पड़ाव के दो टिकट लिये जा सकते हैं। चलें तो सही। आगे देखा जायगा। स्टीमर की सीटी सुनता हूँ तो बेचैन हो जाता हूं। सदानन्द की सलाह बगैर मैं एक कदम नहीं उठा सकता, यह वह जानता है।

"सन्यासी तो टिकट बगैर भी स्टीमर में सफर कर सकता है।"

"पर मैं ऐसा सन्यासी नहीं।"

पैसे का सम्बन्ध सफर से उसी तरह है, जैसे भाप का स्टीमर से। ऐसे साधु-सन्यासी तो हज़ारों नहीं, लाखों होंगे, जिनका आदेश भीख मांगना रह गया है। पर सदानन्द तो एक तरह का मज़दूर सन्यासी है। कहीं कोई तक़रीर कर दी और मज़दूरी पहले खरी करली। पर कोई-कोई सभा पीछे से धता बता देती है, या ज़रूरत के समय पैसे देकर तक़रीर कराना स्वीकार नहीं करती।

मेरा अपना हाल भी सदानन्द से अच्छा नहीं। कलकत्ते के एक पत्र के लिए लेख भेजा था। अभी तक उसकी मज़दूरी नहीं आई, और अब तो यह शक हो रहा है कि नापसन्द न हो गया हो। नापसन्द सही, पर पता तो चले। कभी-कभी जी कहता है कि शायद कल ही मनीआर्डर आ पहुँचे। अपनी तंगदस्ती को सदानन्द भी महत्ता नहीं देता। सोचता हूँ कि खानाबदोश लेखक और मज़दूर सन्यासी से तो ईरावती के मल्लाह ही मौज में है। ईरावती गुनगुना रही है। शायद मेरे विचार का समर्थन कर रही है।

सब आदमी अपनी-अपनी जगह ज़रूरी हैं। पर यह उपेक्षा तो न रहनी चाहिए, न यह नीरसता और न यह बेकारी। दिन-दिन अमीर और ग़रीब के बीच में एक खाई बढ़ती क्यो चली जारही है? कब बदलेगी यह समाज की हालत? सदानन्द मुस्करा रहा है। उसका दूरदर्शी मन नये ज़माने को करीब आते देख रहा है। खुद ही उसके मन में सवाल उठता है खुद ही वह जवाब पा लेता है।

ईरावती हर नये ज़माने का स्वागत करती आई है। वह कहती रही है, बहना ही जीवन है। उसमें तूफान भी आते रहे हैं। इस बार समाज में भी एक बड़ा तूफान आकर रहेगा। इन घिनौनी प्रवृत्तियो की जड़ें उखड़ जायंगी, जो हमें आगे बढ़ने की बजाय पीछे की

और मुड़ने का उकसाया करता है। सब कूड़ा-करकट बह जायगा। और फिर शायद ईरावती के पानियों पर लोगों के आंसू कभी न गिरा करेंगे।

: ३ :

शाम के हल्के अन्धेरे में जब जीवन सिमट जाता है, मल्लाहों के गीत हम पर गहरा असर करते हैं। पाल की तरह बाजू फैला कर सदानन्द भी किनारे-किनारे दौड़ने लगता है। फिर वह आप-ही गिर पड़ता है और रेत पर चित लेट जाता है।

पुरानी पुस्तकों में सन्यासी को यह आदेश दिया गया है कि वह एक स्थान पर बहुत न ठहरे। कहीं-कहीं तो शायद यह भी कहा गया है कि वह एक रात से ज़्यादा न रुके। सदानन्द इसका पाबन्द नहीं। आखिर ये रुकावटें क्यों लगाई गई थीं?

"स्टीमर सीटी दे रहा है। चलो, टिकट ले लें। अब तो रूपये भी आगये।'

"इतनी भी क्या जल्दी है?"

"सन्यासी को तो किसी स्थान के साथ इतना मोह नहीं होना चाहिए।"

"मैं वैसा सन्यासी नहीं।"

पर सच तो यह है कि ईरावती के इस किनारे के साथ मेरा भी मोह हो गया है। यहां कितनी शान्ति है। अब तो जी चाहता है कि भरी-दोपहरिया भी यहीं आकर बिताया करूं।

कोई गाता है—

—'तुम ठहरोगे नहीं?

हमारी बातें सुनोगे नहीं?

हम हैं ईरावती की लहरें!'

दिन का समय होता तो मैं मल्लाह का चेहरा देख सकता और अन्दाज़ा लगा सकता कि वह लहरों के बोल सुनकर कितना प्रभावित हुआ है।

और फिर एकाकी दूसरा गीत गूंज उठता है—

—'पानी से भरे हुए मेघ अभी बरस पड़ेंगे,

मंझदार तो अभी पार करनी होगी।'

मुझे याद है, एक पुराने लोक नृत्य में इस देशकी कंवारी लड़कियां बाजू हिला-हिलाकर चप्पू चलाने की झांकी पेश कर रही थीं। उनके चेहरों पर भय छाया हुआ था—किश्तियां मँझधार में थीं और सिर पर वर्षा खड़ी थी।

फिर एक और गीत समीप आ जाता है—

—'ईरावती की लहरों की तरह

मेरी प्रेयसी स्वतन्त्र है!'

सदियों से इस देश की स्त्री आज़ाद है। पुरुष ने उसकी आज़ादी और खुशी पर छापा नहीं मारा। अक्सर वह अपने पति के प्रति वफ़ादार रहती है। पर जब वह देखती

है कि वह उसकी तबीयत के अनुसार नहीं रहा, तो ग्राम की पंचायत के सामने खड़ी हो कर कह देती है कि वह उसकी पत्नी बनी रहने के लिए मजबूर नहीं हो सकती। मां-बाप से मिली हुई जायदाद पर उसीका हक रहता है, और वह जिसे चाहे, उसीसे विवाह कर सकती है।

मल्लाहों के गीत पहले भी सुने हैं। ये भी न भूलेंगे --

१

ईरावती, अरी ओ मेरी ईरावती
ओ मेरी प्यारी ईरावती।
और सब नदियां प्यारी हैं
मुझसे प्यारी है ईरावती।

२.

दिन भर मैं किश्ती चलाता हूँ
तेरे पानियों पर, ओ ईरावती!
मल्लाह का जीवन है अपने-आप में एक गीत
तेरे पानियों पर, ओ ईरावती!

३.

सुन्दर कंवारियाँ नाच रही हैं, झूम रही हैं,
तेजी से, कभी धीरे-धीरे।
तुमने यह नाच कहाँ सीखा?
बताओ, बताओ, ईरावती की बेटियो!
हम हैं मोर और तुम हो मोरनियाँ,
मोर मारे जायंगे और तुम रोया करोगी।
नदी के इस मोड़ पर यह नाच सीखा या उस पहाड़ पर
जहाँ से ईरावती निकलती है?
तुमने यह नाच कहाँ सीखा?
बताओ, बताओ, ईरावती की बेटियो!

४.

ईरावती में हमारे आँसू समाते रहे हैं, भाइयो!
ईरावती कितनी मैली हो रही है।
और जब ग़रीबी हमारे गले घोंट देगी
ईरावती इसी तरह बहती रहेगी।

५

बहती जा, माँ ईरावती, बहती जा
तेजी से, कभी धीरे-धीरे।
ईरावती, तू चुप क्यों है ? उदास क्यों है ?
हमारे आँसू शौक से पीये जा
हमेशा हमेशा के लिए हम हैं तेरे बेटे !
हमेशा हमेशा के लिए तू है हमारी माँ
बहती जा, माँ ईरावती, बहती जा
तेजी से, कभी धीरे-धीरे।

६.

टूटती ज़ंजीरों को देखो, कंवारियो !
बुद्ध की खुलती आँखों, को देखो कंवारियो !
ईरावती की लहरों को देखो, कंवारियो !

७.

बुद्ध से पूछो चाँदनी रातें कहाँ गुज़ारीं
चाँदनी रातें, बुद्ध की रातें।
ईरावती के पानियों पर बुद्ध ने चाँदनी रातें गुज़ारीं
चाँदनी रातें, बुद्ध की रातें।
मोरों के साथ-साथ बुद्ध ने चाँदनी रातें गुज़ारीं
चाँदनी रातें, बुद्ध की रातें।

८.

बुद्ध जागता रहेगा, जागता रहेगा
जैसे जंगल, पहाड़, दरिया जागते हैं
जैसे मौसमी हवा के झोंके जागते हैं
जैसे मोरों के बेटे जागते हैं
बुद्ध जागता रहेगा, जागता रहेगा।
जैसे ईरावती की लहरें जागती हैं
जैसे मां की लोरियाँ जागती हैं
जैसे फूलों की रँगतें जागती हैं
बुद्ध जागता रहेगा, जागता रहेगा।

९.

धीमी-धीमी चाल से नाचते हैं मोर, नाचते हैं मोर
मोर इतना काहे को नाचते हैं ?

ज़रा बोल तो सही, मोरों की मां !
अपने मुंह से कुछ बोल तो सही।
सारा-सारा सौंदर्य मोरों के लिए ही तो है
सारा-सारा प्रेम मोरों के लिए ही तो है
ज़रा बोल तो सही, मोरों की मां !
अपने मुँह से कुछ बोल तो सही।
सारे-सारे घुंघरू मोरों के लिए ही तो हैं
सारे-सारे वाद्य-यन्त्र मोरों के लिए ही तो हैं
ज़रा बोल तो सही,मोरों की मां !
अपने मुँह से कुछ बोल तो सही।
सारे-सारे आँसू मोर ही तो पीते रहे
बोझल दिलों से मोर ही तो नाचते रहे
ज़रा बोल तो सही, मोरों की मां !
अपने मुंह से कुछ बोल तो सही।

ईरावती गुनगना रही है। शायद अपने बेटों को आशीर्वाद दे रही है। उसकी गुनगुनाहट से प्रभावित होकर मेरी तबीयत में समता आगई है और एक खास तरह की विशाल दृष्टि।

मेरा मन जो कुछ महीनों से पूरा कबाड़खाना बना हुआ था—गैर-ज़रूरी और अन्ट-सन्ट चीज़ों का मालगोदाम—अब बहुत साफ़ हो गया है। यहां बैठकर मुझे नये विचार सूझते हैं। और आत्मा भावुक हो रही है। हल्के प्रभाव भी उस पर ऐसी पक्की तस्वीरें खींच रहे हैं, जो रहती दुनिया तक बनी रहेंगी। सदानन्द भी जैसे मेरे मन में बैठकर ये सब तस्वीरें देखता रहता है। अपना गोल मटियाला सिर उठाकर कभी ईरावती के उस पार देखने लगता है और कभी मेरे सिर के लम्बे बालों की तरफ, जिनकी लहरें शायद धान के पौदों की वह झांकी पेश किया करती हैं जब हवा उन्हें थपकियां दे रही हो।

सदियों से वह इसी तरह बह रही है। वह बर्मा की मां है। मैं उससे इतना प्रभावित होता हूं, पर क्या मैं खुद भी उसे प्रभावित कर सका हूँ ? खुदा हाफ़िज, ईरावती, कल फिर सही।

"उठो स्वामी जी, अब घर चलें।"

"इतनी क्या जल्दी है ?"

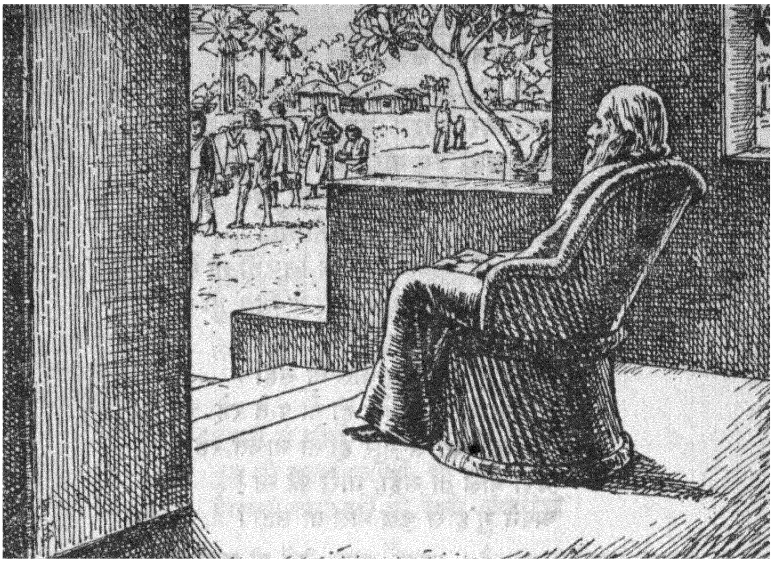

शान्तिनिकेतन

: १ :

मैं पान्थ जो हूं—दूर-दूर का राही। शायद इसीलिये यह पान्थ निवास मुझे इतना पसन्द है। यह सड़क, जिसके किनारे यह मकान खड़ा है, पच्छिम की तरफ सन्थालों के गांवों से जा मिली है।

हँसे जाओ, सन्थाल छोकरियो, तुम्हारी हंसी में तो धरती खिलखिलाती है।

सवेरा होते ही सन्थाल स्त्रियां गांव से निकल पड़ी हैं और पान्थ निवास के सामने से गुजरती हुई अपने काम पर चली जाती हैं। भूख है, सर्दियों की ग़रीबी है और बड़ी कठिन मज़दूरी में जीवन गुज़रता है, पर दैनिक जीवन की कड़वी सचाईयां उनकी हंसी को नहीं मार सकीं। शाम को इसी सड़क से वे वापस आ जाती हैं, दिन भर की मेहनत से थक कर।

शहर और गांव तो मैंने बहुत छान मारे हैं। लोग भी मैंने बहुत देखे-भाले हैं। बार-बार मेरा मुंह पान्थ निवास की तरफ घूम जाता है। जब मैं यहां आता हूं इसी कोने वाले कमरे में ठहरता हूं। बारह साल से मैं इसे जानता हूं। अब यह मेरा कमरा है।

अपनी खिड़की से, जो सड़क की तरफ़ खुलती है उस छितरी छाया वाले वृक्ष की

तरफ़ देखता रहता हूं, जिसके नीचे चौकड़ी भूले हुए हिरण की तरह कोई सन्थाल आ खड़ा होता है। बांसुरी पर वह अपना गान छेड़ देता है। सदियों से यह बांसुरी जागती रही है। सदियों से यह गान जारी है—

क्या हैं आख़िर हम सब मिल कर,
हम सब मिल कर ?—
वृक्षों का इक झुरमुट।
बार-बार बज-बज उठते हैं
ढोल पुराने वक्तों के।
लचक-लचक जाती हैं कमरें,
बाज़ू काले चमकीले
लचकें जैसे कमल हवा के
हलके नरम थपेड़ों से।
क्या हैं आख़िर हम सब मिल कर
हम सब मिल कर ?—
वृक्षों का इक झुरमुट।

यह भाव जो पहली बार इधर आने पर एक पुरातन सन्थाल लोकगीत में सुनने को मिल गए थे, मेरे मन में नाच उठते हैं। यह कैसा गान है ? बांसुरी वाले की आंखों में आत्म-सम्मान झलक उठता है।

यह जा, वह जा, वह दूर निकल जाता है। दूर से गान की आवाज़ सुनता हूं तो मालूम होता है कि दूरी समीपता में बदल रही है। सोचता हूं कि सन्थाल न होते तो शान्तिनिकेतन की पृष्ठभूमि का बहुत सारा सौन्दर्य फीका पड़ जाता। इधर ये लोग कब आये ?

अठारवीं शताब्दी के आखिरी दिनों में।

सन्थाल परगना में वर्षा न होने के कारण खेत बांझ रह गए थे। अकाल से बचने के लिए कुछ लोग इधर आ निकले। होशियार ज़मीदारों की चांदी हो गई। मामूली मज़दूरी पर वे अपनी पथरीली भूमि को खेती के लायक बनवाते चले गए। अब भी ये लोग अनथक मेहनत करते हैं।

सवेरे के प्रकाश में उन्हें अपनी खिड़की से देखता हूं तो सोचता हूँ एक-एक सन्थाल से पूछूं कि रात को भर-पेट खाने को मिल गया था या नहीं और जलपान कितना मज़ेदार रहा।

काका कालेलकर लिखते हैं—"सब-के-सब सन्थाल अपना मुंह खुला रखकर ही चलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि जीवन यात्रा में उन्हें बार-बार असफलता मिली है, और जीवन-संग्राम के लिए उनकी बुद्धि और उनका अनुभव अपर्याप्त रहा है.....सूक्ष्म हास्य और

विनोद कोई नहीं देख पाता तो इनको एक दबी हुई जाति ही बताता। अगर इन लोगों को किसी खास लक्षण ने बचाया है, तो इनके संगीत और इनके नृत्य में प्रकट होने वाले जीवनानन्द ने। जापानी लोगों के बारे में कहा जाता है कि चाहे जितना संकट, दुःख, अपमान अथवा पराजय आ पड़े, जापानी हंसता ही रहेगा। यह कोई बनावटी शिष्टाचार नहीं, परिस्थिति चाहे कितनी विकट हो, जापानी अपना आत्मविश्वास खोता ही नहीं। वह जानता है कि उसका व्यक्तित्व परिस्थितियों से बड़ा-चढ़ा है और समय पाते ही परिस्थितियों को परास्त करने की क्षमता उसमें है। ये सन्थाल भी वैसे ही आत्म-विश्वासी मालूम होते हैं। सम्भव है यह आत्म-विश्वास न हो, बल्कि परिस्थिति का बालोचित अज्ञान हो ..यह संरक्षक अज्ञान न होता तो असहाय और अनाथ बच्चे कभी बड़े न हो पाते और अनन्त आकाश का विस्तार देखकर आदिम निवासी कल्पना के भार से ही दब जाते....। अगर हम जीना चाहते हैं, इन्हें अपने जैसा बनाकर अपने साथ लिये बिना चल नहीं सकते।"

हंसे जाओ खिलखिला कर, भोले सन्थालो, बजाए जाओ बांसुरी। गाये जाओ गान पुराने। पर जीवन से लड़ना होगा अपने बल पर। दबकर न रह जाना। कौन खाता है तरस किसी पर? स्वयं लड़ना होता है अपनी शक्ति से।

छिदरी-छिदरी छाया वाले वृक्ष के नीचे एक बुड्ढा सन्थाल आ बैठा है। अपने कमरे की खिड़की से मैं उसे देख रहा हूं। उसके पास जा बैठने को जी चाहता है। लो अब तो सुन्दरम् भी उसके पास आ बैठा। वह इस बुड्ढे का पेन्सिल स्केच बनाने आया होगा। मैं भी देखूँ चल कर।

बुड्ढा मुसकरा रहा है, सुन्दरम् भी और मैं भी।

"कितने भोले लोग हैं, ये सन्थाल।"

"जी हां।"

कितने भोले लोग है ये सन्थाल, ऐसा कहने में सुन्दरम् का लाभ है। पर वह स्वयं क्यों भोला बनना पसन्द नहीं करता? यही आदमी यों अपना स्केच न बनाने दे और अपने समय की कीमत मांगना सीख ले, तो सुन्दरम् को होश आ जाय। दक्षिण हिन्दुस्तान का यह युवक आखिर कैसा विद्यार्थी है! चित्रकार बन कर वह पैसे कमायेगा और बहुत सम्भव है यही स्केच जो वह इस समय बना रहा है पांच-सात आने में किसी टूरिस्ट के हाथ बेच डाले···पर इससे इस बुड्ढे को क्या लाभ? उसे अगर इस समय दो रसगुल्ले ही खिला दिये जायं, तो वह सुन्दरम् की तरफ अहसान भरी दृष्टि से देखने लगे।

एक अंग्रेज़ टूरिस्ट कह रहा है: "सन्टाल बहुत अच्छा लोग है।"

मैं सोचता हूँ, काश हम सब इतने अच्छे होते। अब यदि मैं यह बात खुलमखुला इस टूरिस्ट से कह दूं तो वह शायद फिलज़ूल कर कह उठे: "आम टो सन्टाल नाईं बनने पकटा।"

कल सुन्दरम् ने एक सन्थाल छोकरी का स्केच बनाया था। पेन्सिल चलाते-चलाते

वह कह रहा था: "सौन्दर्य क्या केवल रंग तक सीमित है ? गोरे रंग और तीखी नोक पलक से परे भी सौन्दर्य की सीमाएं फैलती चली गई हैं।"

सुन्दरम् ने यही बात सन्थाली भाषा में या सरल बंगला में कही होती तो वह छोकरी अपने सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर समझती के उसे उसके समय की कीमत मिल गई। फिर यह सोचकर कि शायद उसके जूड़े का फूल नीचे को ढलक गया है, वह उसे ठीक करने लग जाती। पर वह तो मूर्ति के समान बैठी रही थी। सम्भवतः यह उसका पहला अनुभव न था।

सात पौष को शान्तिनिकेतन का जन्म दिन मनाया जाता है। यह "सातइ पौष" वर्षों से एक मेले का रूप धार चुका है। सागर की उछलती हुई लहरों की तरह सन्थाल छोकरियाँ इस तट पर आती हैं और उनके अट्टहास आश्रम के शान्त वायु-मण्डल में हल-चल पैदा कर देते हैं।

"अपनी पेन्सिल तेज़ कर लो, सुन्दरम्!"

"हां भाई, सातइ पौष आ गया, एक वर्ष बाद। आज मैं नई स्केच बुक में काम शुरू करूंगा।"

"पहले किसका स्कच बनाओगे?"

"किसी दाढ़ी वाले का।"

"मैं जो हूँ।"

लहरों के रेले देख लीजिए। एक लहर स्वयं मेरी पत्नी है। सन्थाल छोकरियों की देखा-देखी उसने पुराने ढंग के गिल्ट के झुमके खरीद कर पहन लिये हैं। सन्थालनें उसे देखती हैं और अजब अन्दाज़ से मुस्कराती हैं। सुन्दरम् ने जल्दी-जल्दी उसका एक स्केच बना डाला है।

"यह स्केच मुझे दे दो, सुन्दरम् भाई!"

"नहीं यह मेरे पास रहेगा।"

अब कविता—मेरी कन्या, अपनी माता का स्केच लेने की ज़िद कर रही है। सुन्दरम् उसके लिए इस तरह का दूसरा स्केच बना रहा है, जल्दी जल्दी।

मेरे मन में एक सन्थाल लोक-गीत के भाव जाग रहे हैं—

माता पिता हैं चांद और सूर्य
भाई बहन हैं तारे सारे
सूर्य की किरनों से मेरा जन्म हुआ है
नाम है सूर्य्यमुखी, प्यारे!

न जाने पहले-पहल कब यह फूल खिल उठा था? क्या यह धरती कभी इतनी बांझ हो जायगी कि ये फूल खिलने से रह जायं? क्या मेरी पत्नी भी एक सूर्य्यमुखी है?

मास्टर मोशाय (श्री नन्दलाल बोस) आ रहे हैं। बहुत खुश नज़र आते हैं। इन

मानवीय लहरों के रेले निस्सन्देह उनके दिल के सागर-तट को छू-छू जाते हैं । वे क्य सोच रहे हैं ? मैंने अपना कैमरा खोल लिया है ।

"मास्टर मोशाय ! अपनी फोटो खींच लेने दीजिए आज ?"

"मेरी फोटो ?"

"जी हां ।"

अपने विशेष अन्दाज़ से वे फिर कह उठे : "मैं तो इतना सुन्दर नहीं । यों ही फ़िल्म ख़राब करोगे । किसी सन्थाल कन्या की फोटो क्यों नहीं ले लेते ?"

: २ :

"क्या सोच रहे हो, पण्डित जी ?"

"कुछ नहीं ।"

पण्डित जी (श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी) उमर में मुझसे एक-आध वर्ष बड़े होंगे उन्हें मिलने से पहले उनके लेख पढ़कर श्री प्रेमचन्द तक का ख्याल था कि उनकी उम पचास से तो क्या कम होगी । पर मुझे यह ग़लत-फ़हमी नहीं हुई थी ।

पहले-पहल पण्डित जी मुझे कलकत्ता में मिले थे । यह कोई आठ वर्ष पहले क बात है । उस समय भी वे इसी तरह कहकहे लगाया करते थे । जो आदमी उनकी निगा में न जंचे, उसकी तरफ़ टिकटिकी बाँध कर देखते रहने से वे उन दिनों भी उकता न थे ।

रात को उनके लिए पलंग पर बिस्तर लगाया गया और मैं स्वयं एक बड़ मेज़ पर चादर बिछा कर लेट गया । पण्डित जी मेरी तरफ़ टिकटिकी बांधकर देखते रहे आख़िर मैंने कहा: "शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए यही हिदायत की गई है कि वह नर बिस्तर पर न सोए ।"

विवाह से कुछ ही महीनों के बाद मैं पत्नी को घर छोड़कर चला आया था औ किसी तरह यह समझने लगा था कि मैं फिर ब्रह्मचारी बन गया हूँ । फिर जब पण्डित ज को पता चला कि मैं विवाहित हूं तो उन्होंने जोर से कहकहा लगाया ।

"क्या सोच रहे हो, ब्रह्मचारी जी ?"

"कुछ नहीं ।"

अक्सर वे तिलोत्तमा को याद किया करते हैं । इस अप्सरा के सम्बन्ध में पुराणों यह बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने जगह-जगह से तिल-तिल भर सौंदर्य जमा किया और फि इससे तिलोत्तमा की रचना की । पण्डित जी का ख्याल है कि अगर ब्रह्मा ने यह सब मसाल केवल जमा किया होता और यह न सोचा होता कि आख़िर इससे किस तरह की अप्सरा तैया करनी होगी, तो शायद सौन्दर्य का यह ढेर अपने आप में सबसे असुन्दर चीज़ सिद्ध होता

"लोकगीत-खोजी को भी अपनी तिलोत्तमा की कल्पना कर लेनी चाहिए ।"

"अपनी तिलोत्तमा की कल्पना मैंने कर रखी है ।"

पण्डित जी यह मानते हैं कि कुछ लोकगीत इतने सरस और मार्मिक होते हैं कि कालिदास और भवभूति भी उनके सामने हेच नज़र आते हैं, पर सभी गीतों पर तो यह बात लागू नहीं होती।

"लोक-मानस भी गीतों को जन्म देते समय उन्हीं भावों से स्पन्दित और आन्दोलित हुआ है जिनसे कालिदास और भवभूति प्रभावित हुए थे। इसी तरह घास और बाँस प्रकृति के एक ही महकमे से सम्बन्ध रखते हैं, पर कोई भला आदमी बाँस की जगह घास का प्रयोग नहीं करेगा···हमारे पड़ोसी सन्थाल लोग पुराने रहन-सहन पर मुग्ध हैं। हम उनसे स्नेह कर सकते हैं पर इसका भाव यह तो नहीं कि हम स्वयं भी सन्थाल बन जायं। सन्थाल बनकर हम समय का अपमान करेंगे। आज की सभ्यता क्या चाहती है? यही न कि हम नये युग के साथ-साथ चलें···हाँ तो मैं कह रहा था कि लोक गीतों के निर्माता कालीदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ की बिरादरी ही से हैं, पर इसका भाव यह तो नहीं कि आज का कवि लोकगीत लिखने लगे और कालीदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ से मुंह मोड़ ले। क्या यह बात अफ़सोस करने के योग्य नहीं कि हमारे कुछ युवक कवि अब ऐसे गीत लिखने लगे हैं जिनसे खद्दर-प्रचार में मदद मिले? और हमारे कुछ साहित्य-सेवी उनकी पीठ ठोंकने लगे हैं।"

"मैं आपसे सहमत हूँ, पण्डित जी!"

जब भी मैं लोकगीतों के बल पर जनता के सुख दुःख का ज़िक्र करता हूँ, पण्डित जी बात का रुख़ बदलकर मेरा ध्यान उस सभ्यता की ओर मोड़ देते हैं जो उनके विचारानुसार प्राचीन आर्यों के हिन्दुस्तान में आने से पहले इस देश में मौजूद थी।

"लोकगीतों की सहायता से हम एक पुराने संसार को प्राप्त कर लेंगे जिसे या तो हम भूल चुके हैं या जिसे ग़लत समझ बैठे हैं। राजनीतिक रूप से तो आर्य लोगों ने हिन्दुस्तान को जीत लिया था, पर उस सभ्यता को जो पहले से यहां मौजूद थी और इस विशाल देश के हर भाग में ज़रा-ज़रा फ़र्क़ के साथ-साथ सांस ले रही थी, आर्य लोग पराजित न कर सके थे···आज भी हमारे जन-साधारण के रस्म-रिवाजों में आर्यों से पहले की उस सभ्यता की कुछ-न-कुछ झलक पाई जाती है। प्राचीन लोकगीत उस सभ्यता पर प्रकाश डाल सकते हैं। पुरातत्व विभाग वालों को यह बात बुरी न लगे तो मैं कहूंगा कि प्राचीन लोकगीतों का महत्व मोहंजोदारो सरीखे खंडहरों से कहीं ज्यादा है।"

"आप सच कहते हैं, पण्डित जी!"

"एक बार लिथुआनिया का एक प्रोफ़ैसर शान्तिनिकेतन देखने आया था। अपने भाषण में उसने बताया कि पिछले पाँच सौ वर्षों से उसका देश ईसाई धर्म के पंजे तले रहा है और बराबर स्वाधीनता के लिए लड़ता आया है। ईसाई विजेताओं ने पुराने साहित्य को नष्ट कर दिया। अब जब इस देश को स्वतन्त्रता मिल चुकी है वह अपनी प्राचीन राष्ट्रीय संस्कृति को फिर से ज़िन्दा करना चाहता है। लोगों के पास सिर्फ़ वे लोकगीत ही बच पाए

हैं जो शताब्दियों से उनके होंठ चूमते रहे हैं। इन गीतों के प्रकाश में लिथुआनिया अपनी खोई हुई दुनिया को ढूंढ लेना चाहता है। लोकगीतों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और अभी कई संग्रह तैयार किये जा रहे हैं·····उस प्रोफैसर ने मुझे बताया था कि लिथुआनिया की पुरानी सभ्यता पर भारतीय संस्कृति का बहुत असर रह चुका है। जब एक व्यक्ति यहां दूसरे व्यक्ति से मिलता था तो 'राम राम' कहा करता था और जब कोई मर जाता था तो उसके सम्बन्धी 'राम नाम सत्त' कहा करते थे।"

"लिथुआनिया के लोकगीतों पर कोई पुस्तक अंग्रेज़ी में जरूर मिल जायगी। ऐसी सब बातें मैं बहुत ध्यान से पढ़ूंगा पण्डित जी।"

"एक बार मैंने भी युक्त प्रांत और बिहार की सीमा पर स्थित एक गांव में लोक-गीतों का अध्ययन शुरू किया था। माता देई—शीतला, की पूजा के एक गीत में एक पद ऐसा भी आता था, जिससे यह पता चला कि माता देई का विवाह किसी 'अलीसेर' (अली-शेर ?) से हुआ था। मैंने यह गीत लिखकर एक हिंदू मित्र को दिखाया तो वह बोले: 'हिन्दू स्त्रियों को यह गीत गाना बन्द कर देना चाहिए।' फिर जब यह गीत श्री मनमोहन घोष ऐम० ए० को दिखाया गया तो वे बोले: 'यह अलीसेर अलीशेर का बिगाड़ा हुआ रूप नहीं बल्कि किसी बौद्ध महायान मरमी का विकृत नाम होगा। इससे मिलता-जुलता एक नाम मैंने बौद्ध भिक्षुओं में पाया भी है।'...कौन कह सकता है कि 'अलीसेर' का ज्ञान हमारी किसी बड़ी जानकारी का साधन नहीं होगा?"

"इस गवेषणा के लिए अनेक धन्यवाद, पण्डित जी। बहुत से बौद्ध गान और देवी देवताओं के नाम हमारे लोकगीतों मे छिपे पड़े हैं। सुनता हूं भूपेन्द्रनाथ दत्त ने कुछ ऐसे गीत खोज निकाले हैं।"

"इस दिशा में गम्भीर खोज की आवश्यकता है। एक बार मैं क्षिति बाबू के साथ घूमने निकला तो मैंने देखा कि सन्थाल स्त्रियों की एक टोली हाथों में पुआल की मशाल जलाते हुए गाती चली जा रही है। ये स्त्रियां दूर निकल गईं, तो क्षिति बाबू ने पूछा: 'कहिये, क्या सुना?' और जब मैंने बताया कि गंगा पूजने जाती हुई स्त्रियां मेरे अपने गांव में भी इसी लय में गाया करती हैं, तो क्षिति बाबू बोले: 'गंगा आर्यों' का शब्द नहीं है। उनके यहां आने से पहले यह हिन्दुस्तान की स्थानीय जाति में प्रचलित था। ये सन्थाल भी उसी प्राचीन जाति में से हैं। आपके प्रान्त की स्त्रियों ने गंगा-पूजा का वह गीत किसी ज़माने में सन्थाल स्त्रियों से ही सीखा होगा।'·····आपके संग्रह में मुझे एक गुजराती दुलहन का दुःखान्त गीत बहुत पसन्द है। बेचारी का अपना पति एक घरेलू गलत-फहमी के कारण सोने के कटोरे में ज़हर घोलकर उसे पिला देता है। सारे गीत पर वेदना का वायु-मण्डल छा रहा है। ऐसा कोई गीत सन्थालों में भी ज़रूर मिलना चाहिए।"

"ज़रूर मिलना चाहिए, पण्डित जी!"

"तुम्हारे लोकगीत मुझे प्रिय हैं, यह शान्तिनिकेतन भी मुझे प्रिय है ···कभी

किसी लाटरी में यदि मुझे पचहत्तर लाख रुपये मिल जायं तो पांच लाख तुम्हें दे दूँ जिससे तुम लोकगीतों का प्रकाशन बड़ी सुन्दरता से करते रहो और बाकी रुपये से हम हिमालय पर एक नया शान्तिनिकेतन स्थापित करें।"

"ज़रूर, ज़रूर।"

: ३ :

सातह पौष के मेले पर पिछले वर्ष श्री सी० ऐफ० एंड्रूज़ मुझसे यों मिले थे जैसे कोई बाप वर्षों के बिछड़े हुए बेटे से मिलता है। चायना-भवन की ओर उनके साथ जाते हुए मैंने देखा कि वे सभी से बग़लगीर होकर मिलते हैं। सामने से कोई सन्थाल आ जाता तो वे उसे भी छाती से लगा लेते। मुझे यों महसूस हो रहा था कि मैं स्वयं हज़रत ईसा मसीह के हमराह चला जा रहा हूँ।

इस बार उन्हें कलकत्ते में काम था। सातह पौष के बाद वे यहांसे फौरन चल दिए।

वे कह रहे थे: "कौन जाने अगले सातह पौष पर तुम किधर रहो और मैं किधर रहूँ। पिछले वर्ष की तरह अबकि हम फिर मिल सके, यह कुछ कम बात नहीं है..... तुम्हारे कार्य से मुझे बहुत दिलचस्पी है। हर कार्य एक साधना मांगता है, एक धुन। और मैं तो समझता हूं कि गांव वालों के गीत बड़ी खूबी के साथ हिन्दुस्तान का धड़कता हुआ दिल हमारे सामने ले आते हैं।"

चलते-चलते वे कह गए कि मैं उनकी फोटो जल्द भेजूं। क्रिसमस की सुबह को उनकी जो फोटो मैंने ली थी उसमें उनकी भरपूर हार्दिक खुशी को दिखाने का यत्न किया था।

उन्हें वह फोटो और भी पसन्द आयगी जिसमें कविता—मेरी कन्या, उनकी गोद में बैठी है। उन्होंने बताया था: "जीवन का एक महान् आनन्द मुझे उस समय मिलता है, जब किसी बच्चे का हाथ मेरी दाढ़ी को छू रहा होता है।"

मानवीय लहरों के वे ज़बरदस्त रेले अब नज़र नहीं आते। पान्थ निवास के सामने वाली सड़क पर फिर वही खामोशी छा रही है।

दूर से बाँसुरी की लय कान तक पहुँचती है और समय गुज़रता रहता है।

सवेरा, दोपहर, शाम।

वर्तमान भूत बन जाता है। भविष्य वर्तमान बन जाता है। गाने से पेट तो नहीं भरता, पर गाना भी ज़रूरी है। शताब्दियों से यह बाँसुरी कांपते, डगमगाते आदमी का सहारा रही है। शताब्दियों से यह कभी सोई नहीं। यह यहां न होती तो शान्तिनिकेतन का बहुत सारा सौन्दर्य फीका पड़ जाता और मैं तो समझता हूँ कि गुरुदेव की कविता भी इससे प्रभावित हुई है।

आसाम से लौटकर दार्जिलिंग में गुरुदेव से मिला था तो उन्होंने मेरी ऑटोग्राफ़-बुक में ये शब्द लिख दिये थे—

तो मैं बाँट भी सकती थी, बहन!
अपना बालम तो बाँट नहीं सकती।'

७.

किस तरह की युवतियां
किस तरह के युवक
गली में धूल उड़ा रहे हैं ?
(मछलियों की तरह) छिलबिल-छिलबिल करने वाली युवतियां
और 'कुरसी' फूलों जैसे युवक
गली में धूल उड़ा रहे हैं।

८.

ओ मेरे साजन, नीचे मेरे गाँव में आओ
आओ हम खड़े होकर बातें करें
तुम दूध पीना चाहो तो मैं तुम्हें दूध दूँगी
तुम दही खाना चाहो तो मैं तुम्हें दही दूंगी
पर तुम तो केवल कबूतर के शोरबे ही से खुश हो सकोगे।

९.

ओ श्वेत पर्वत की दोनों फ़ाख्ताओ!
तुम्हें क्या दुःख था कि तुम उड़ गईं ?
यह दिन की गरमी थी
यह रात की ओस थी
यह ओस थी जिसने तुम्हें उड़ने पर मजबूर किया।

बजाए जाओ बांसुरी, भोले सन्थालो! गाये जाओ गान, नये पुराने। गाना भी ज़रूरी है। शताब्दियों का बोझ जो झेलना होता है। तुम्हारे गीतों में गाती है धरती माता, अच्छी, प्राचीन धरती माता। पर जीना होगा अपने बल पर। दब कर न रह जाना। कौन खाता है तरस किसी पर ?···हाय, जीवन की कड़वी सचाईयां!

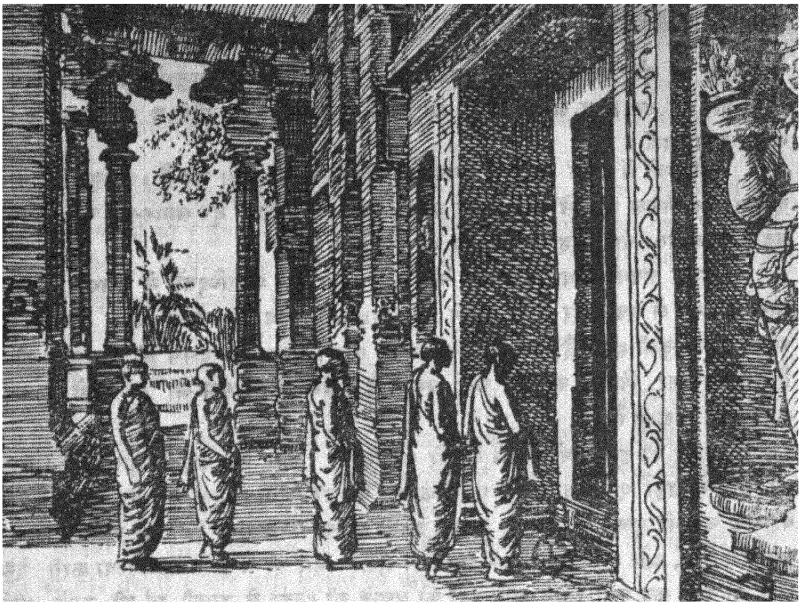

लंका देश है कोलम्बो

: १ :

ताड़ों की छाया में हम तीनों सागर के किनारे बैठे हैं—मैं, मेरी पत्नी और बेटी कविता। दूर तक सड़क चली गई है—सागर के किनारे-किनारे। ग़रीब मज़दूर के जमे हुए लहू की तरह इसका रंग काला है। सड़क के किनारे यह फुटपाथ, जिस पर पड़ी बेंच पर हम बैठे हैं, काफी उभरा हुआ है—किसी विधवा की आँख की तरह, जो लगातार रोने से सूज गई हो।

"यह जुगनू है माँ! दूर देश का राही"—बचपन में पहली बार जुगनू पकड़कर जब मैं अपनी माँ के पास ले आया था, तब मैंने यह बात बड़े गर्व से कही थी। जुगनू मेरी मुट्ठी में बन्द था और उंगलियों की दरार से आती हुई उसकी मन्द ज्योति मुझे बहुत भली प्रतीत हो रही थी। वह जरूर किसी दूर देश का कीड़ा है और रात होते ही अपने हमजोलियों-समेत, किसी जादू के असर से, हमारे देश में चला आता है। यह सोचता हुआ मैं हिरण के बच्चे की तरह आँगन में कूद रहा था।

"इसे छोड़ दे, बेटा! कहीं ऐसा न हो कि इसके पंख टूट जायं। बड़े नन्हे पंख होते हैं इसके, बेटा! पीछे इसकी माँ बेचैन न होती रहे!" मां की यह सीख मान कर

मैंने जुगनू को छोड़ दिया था। पर इसके बाद भी वर्षों तक मैं जुगनुओं के पीछे भागता रहा। हां, यह डर ज़रूर लगा रहता, कि कहीं मेरा घर इतना पीछे न रह जाय कि मैं रास्ता भूल जाऊँ।

कोलम्बो में पहुंच कर मुझे बचपन के बीते दिन याद आ गए हैं। जुगनुओं के पीछे दौड़ता, दूर निकल जाने से डरने वाला बच्चा, बड़ा होकर इतनी दूर सागर-पार आ पहुंचेगा, यह कौन जानता था? यह तो मेरी मां भी न जानती थी।

सागर अपनी भाषा में न जाने क्या बोल रहा है? शताब्दियों से उसकी आवाज़ जारी है। दूर से एक लहर सिर उठाये हुए आती है। जब तक पहली लहर किनारे पर आकर टकरा चुकी होती है, उसकी जगह से परे दूसरी लहर, जो उससे भी ज़बरदस्त होती है, सिर उठाकर किनारे की ओर चल पड़ती है, और फिर उससे भी परे दोनों से बड़ी लहर सिर उठाती है।

सागर की इन तीनों लहरों के बारे में लंका के लोग एक कहानी सुनाते हैं। आज भी ये तीनों लहरें एक-एक आत्मा अपने कन्धों पर उठाये नाच रही हैं। एक युवक अपनी बहन के चांद-से मुखड़े को देखकर उसकी इतनी प्रशंसा करने लगा कि नारी बनने से उसका मन ऊब गया, और शरमाकर उसने सागर में छलांग मार दी। उसे आत्महत्या करते देख भाई भी पीछे कूद पड़ा। बेटे और बेटी को बचाने की इच्छा से उनकी मां भी उनके पीछे हो ली। लोग कहते हैं कि सबसे बड़ी लहर पर उस लड़की की आत्मा सवार है उससे छोटी लहर पर लड़के की आत्मा और उससे भी छोटी लहर पर मां की आत्मा। शताब्दियों से ये आत्माएं बेचैन हैं। तीन लहरें अलग-अलग उठती हैं, किनारों से अलग-अलग टकराती हैं और आजतक तीनों आत्माएं एक दूसरी को मना नहीं सकी।

कोलम्बो के इस विशाल सागर की ओर देखते हुए मुझे एक कहानी याद आ रही है, जो मैंने अलमोड़े के एक ग्राम में सुनी थी।

एक पहाड़ी नाला सोचने लगा कि उसे किसी छोटी बरसाती नदी से नहीं, बल्कि सागर की बेटी से विवाह करना चाहिए। वह घर से चल पड़ा। रास्ते में एक नदी मिली। उसने पूछा—"तुम किधर जा रही हो?'

"मैं इस ओर पचास कोस तक जाऊंगी।"

"तो मुझे भी अपने साथ ही लेती चलो। मैं सागर की बेटी से विवाह करने जा रहा हूँ?"

"चलो, जहां तक मैं जाती हूँ। आगे मैं तुम्हें किसी दूसरी बहनके हवाले कर दूंगी।"

चलता-चलता वह सागर तक जा पहुँचा और उसे सम्बोधन करके बोला: "मैं आप की बेटी से विवाह करूंगा।"

"पर अब तो चौमासे के दिन हैं। इन दिनों हमारे यहां विवाह की बाबत कोई बात-चीत नहीं हो सकेगी। अभी जाओ, फिर आना। मैं अपनी बेटी की सम्मति भी पूछ लूंगा।"

नाला चला गया। कैसे ? कौन जाने ? और चौमासे के बाद उसमें इतना जल ही न रहा कि वह सागर की ओर चल सकता। वह केवल सागर की बेटी के स्वप्न देखता रह गया।

सागर की बेटी क्या सचमुच पहाड़ी ग्रामों की किसी सीता, खूबानी और चमेली से भी अधिक रूपवती थी ? हुआ करे। मैं तो आदमी हूँ। कोई पहाड़ी नाला नहीं हूँ। मुझे जो पत्नी नसीब हुई है और जो इस समय मेरे साथ बेंच पर बैठी है, मेरी निगाह में सागर की बेटी से कहीं अधिक रूपवती है।

"सागर की लहरें क्या बोल रही हैं, पिताजी ?"

"वे कहती हैं, कविता हमारे साथ खेले। जाओ, बेटी !"

कविता चल पड़ी है। फुटपाथ से नीचे उतर रही है। लो, वह रेतीले तटपर चली गई। वह दौड़ रही है—अजब अन्दाज़ से, जैसे वह कथाकलि-नृत्य का अभ्यास कर रही हो। पर वह तो लौट रही है। जब वह सागर की लहरों से हिल जायगी तब शायद हमारे बाध्य करने पर भी घर लौटने का नाम न लिया करेगी।

कविता फिर हमारे साथ बेंच पर आ बैठी है। फैलती हुई आंखों से कभी मेरी पत्नी सागर की ओर देखती है और कभी कविता की ओर।

"कविता हमारे सागर की लहर है।"

"हां।"

मेरे मुख से यह एक ही शब्द सुनकर मेरी पत्नी के गालों पर वही लाली दौड़ रही है, जो मैंने पन्द्रह वर्ष पहले देखी थी, जब वह आदम-कद आईने के सामने खड़ी कभी अपनी लजीली आंखों को देखती जाती थी और कभी कनखियों से मेरी ओर।

पुरानी कथाओं में क्षीर-सागर की बहुत प्रशंसा हुई है। पर क्या वह इस सागरसे भी सुन्दर है जिसे लंका का पुराना इतिहास याद है ? इसे कोलम्बो का बचपन तो हरगिज़ न भूला होगा। क्षीर-सागर में शेषनाग ने विष्णु भगवान् के लिए मुलायम शय्या बना रखी है। विष्णु भगवान् लेटे हुए हैं। उनकी पत्नी लक्ष्मी उनके पैर दबा रही है।

खूब कल्पना है। हुआ करे। यह सब देवताओं की कहानी है। मैं तो आदमी हूं और कोलम्बो में सागर के किनारे अपनी पत्नी और बेटी-समेत बेंच पर बैठा हूँ।

: २ :

जब से मैं कोलम्बो में आया हूं, मेरी ग़रीबी और भी ज़ाहिर हो गई है। जिस मकान में मैं रहता हूँ, उसके क़रीब ही एक बेकरी है। बेकरी का मालिक कौन जाने मेरी बाबत क्या सोचता रहता है।

"यहां नौकरी की तलाश में आये हो, साहब ?" कुछ दिन पहले उसने मुझसे प्रश्न किया था।

जब मैंने उसे बताया कि मैं यहां लङ्का के लोकगीत जमा करने आया हूं, तो वह

हैरान रह गया। वह खुद लङ्का का आदमी है—पक्का बौद्ध। सिंहाली, जो उसकी मातृभाषा है, वह बहुत सुन्दर बोलता है। सिंहाली लोकगीत उसने कभी नहीं सुने और न वह उनका महत्व ही समझता है। शायद वह मुझे दीवाना समझता है। लोकगीत ही जमा करने थे, तो मैं अपनी पत्नी और बेटी को साथ लिये क्यों मारा-मारा फिरता हूं देश-देश में? और मैं कोलम्बो में क्यों रहता हूं? किसी ग्राम में जाना चाहिए। अब मैं उसे कैसे समझाऊं कि शुरू में यहां रहना ज़रूरी है, ताकि इधर के साहित्य-सेवियों का सहयोग पा सकूं, जो इस कार्य में किसी भी तरह मेरा हाथ बंटा सकते हों।

ग़रीबी ख़ानबदोश लेखक का पीछा नहीं छोड़ती।

इस बेकारी को देखता हूँ, तो मुझे सारा कोलम्बो शहर एक बड़ी भट्टी मालूम होने लगता है। इस भट्टी में मैं डबल-रोटी की तरह सेंका जाऊंगा। यह निगोड़ी किस्मत भी तो एक नानबाई ही है। कितना जंचा हुआ है उसका हाथ। गुंधे हुए आटे के लोए बनाती, उन्हें ठप्पों से गुज़राती और सेंकती वह कभी ऊबती नहीं।

"यही लङ्का देश है, पिताजी?"

"हां, कविता!"

वह चुप हो गई। कौन जाने कल वह फिर यही प्रश्न दुहराए। बचपन में हम क्यों एक ही प्रश्न बार-बार पूछा करते हैं? एक बार जवाब पाकर थोड़ी देर के लिए तसल्ली भले ही हो जाय, पर प्रश्न बराबर उठता रहता है।

कहां है रावण? कहां है उसकी लङ्का का सोना? हनुमान ने उसका महल जला डाला था। पर इतना सोना कहां चला गया? हां, तो क्या रामायण का रावण केवल कवि बाल्मीकि की कल्पना से उत्पन्न हुआ था? और इस कवि की कल्पना का धरती के साथ—धरती के जीवन के साथ—कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता?

यह किसी कवि के स्वप्नों की लङ्का का हाल नहीं है। लङ्का का रहन सहन हिन्दुस्तान के औसत जीवन से ऊंचा है। हर चीज़ मंहगी है। जीवन के ऊंचे रहन-सहन का कष्ट जितना ग़रीब ख़ानाबदोश लेखक महसूस करता है उतना ख़ास लङ्का वालों को नहीं होता। उनको अधिक खर्च करना पड़ता है, तो वे अधिक कमाते भी तो हैं।

शॉपिंग करते हुए इन्जनों की तरह सजे-धजे महाशय आंखें मटकाते निकल जाते हैं। सागर के किनारे शाम के समय आप भी आइये और फैशन का पूरा नाटक देख लीजिए।

अभी कल मिस्टर सिलवा की पत्नी जापानी जारजेट की साड़ी के लिए अपने पति से रुपये माँग रही थी। मुझे अपने एक बंगाली मित्र की तंगदस्ती याद आ गई। बहुत उदास होकर मिस्टर मुकर्जी ने मुझे बताया था कि उनकी पत्नी नया महीना चढ़ते ही कह उठती है कि उसी दिन उसके लिए नई साड़ी आ जानी चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ मिसेज़ मुकर्जी ढाका की असली रेशमी साड़ी माँगती थी, वहाँ मिसेज़ सिलवा

विदेशी कपड़े के सस्तेपन पर लट्टू हो रही हैं। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ। बेचारे मिस्टर सिलवा पर ख़र्च का बोझ कम पड़ता है।

कोलम्बो में हिन्दुस्तानियों की बहुत सी दुकानें हैं। सजी-धजी स्त्रियां अपनी ज़रूरत की चीज़ें आप खरीदने आती हैं। हर दुकान पर सौन्दर्य का मेला-सा लगा रहता है। साड़ी का मोल पूछने वाली लड़की की धीमी, मीठी आवाज़ सुनकर सादी सूरत और पोशाकों वाला हिन्दुस्तानी कारिन्दा अपने दिल में एक गुदगुदी-सी ज़रूर महसूस करता होगा। पर उसे इतनी फ़ुर्सत कहाँ कि वह यह सोचे कि वह लड़की अभी 'मिस' ही है या 'मिसेज़' बन चुकी है? यहाँ बहू और बेटी की पोशाक में वह कोई भेद नहीं देखता। बौद्ध दुलहिनें माँग में सिन्दूर भी नहीं भरतीं।

"लंका देश अजीब है! यहाँ सुहागिन और विधवा की भी कोई पहचान नहीं।"

"ठीक है।"

"है तो आख़िर रावण की लङ्का ही न!"

बिसाती की दुकान से यह आवाज़ सुनाई देती है। मुझे हँसी आ रही है। ट्राम चल रही है। मोटर-कारें इधर-उधर घूम रही हैं। फिर भी यह रावण की ही लंका रही!

कोलम्बो के पत्रों से मुझे अपने लेखों की मज़दूरी मिलने लगी है। कुछ रुपया मद्रास से आ रहा है। अब मकान वाले का आदमी हमारे यहाँ किराया लेने आता है, तो मुझे अपने ऊपर क्रोध नहीं आता। इस मकान में बिजली का भी अजब प्रबन्ध है। एक खाने में पचीस सेंट (चवन्नी) का सिक्का डालना होता है। मीटर से पता चलता रहता है कि बिजली कितनी बाकी है। इस सिक्के के हिसाब की बिजली ख़र्च होते ही अँधेरा हो जायगा। फिर नया सिक्का डालना होगा। आज तो पहला सिक्का ख़तम होने से पहले ही दूसरा सिक्का डाल दिया है।

: ३ :

क्या लंका के इतिहास में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जिसे अपनी पटरानी से ऐसा ही प्रेम रहा हो, जैसा शाहजहां को अपनी मलका से था? काश, यहाँ भी किसी ऐसे राजा ने कोई मक़बरा बनवाया होता। उसे पत्नी को दिखाते हुए मैं वही शब्द दुहराता, जो आगरे में मेरे मुख से निकल पड़े थे: "यह सिर्फ़ शाहजहां की भेंट नहीं। यह पुरुष की भेंट है नारी के लिए!" उस समय मुझे अपनी ग़रीबी भूल गई थी। मैं भी एक शाहजहां था और मेरी पत्नी एक मुमताज़ महल।

सूर्योदय से पहले सागर-तट पर खड़ा होना एक बड़ी ख़ुशकिस्मती है। पहले क्षितिज पर वह लाली नज़र आती है, जो पहली बार दूल्हे के सामने आ खड़ी होने पर लजाऊ दुलहिन के गालों पर नाच उठती है। खुद मैंने ही ललचाती आँखों से हज़ार बार सूर्य भगवान् को अपने सोने के रथ पर सवार होते देखा है। रावण की लंका का सारा सोना

कहीं सूर्य भगवान के रथ पर तो ख़र्च नहीं हो गया ? पर यह रथ तो पुराना—सैकड़ों रावणों से पहले का है।

कल शाम को विश्व कवि रवीन्द्रनाथ की एक कविता मुझे बहुत गुदगुदा रही थी।

—'सायंकालके हलके अँधेरे में सब चीज़ें भूत-प्रेत बन जाती हैं। मीनारों के निचले भाग अँधेरे में खो गए हैं। वृक्षों की चोटियाँ मानो स्याही के धब्बे बन गई हैं। मैं सुबह की प्रतीक्षा करूँगा और जाकर तेरे शहर को देखूंगा।'

अब सवेरे के प्रकाश में सोचता हूँ कि कहीं यह कविता कवि ने कोलम्बो को अपने सम्मुख देखकर ही तो नहीं लिखी थी। कवि कभी आकाश को देखता है और कभी असीम सागर को, जिसके दर्पण में सूर्य सदा से अपना मुख देखता आया है। रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

—'तेरी भाषा क्या है, ओ सागर ?'

'अनादि प्रश्न की भाषा।'

'तेरा उत्तर कौन-सी भाषा है, ओ आकाश ?'

'अनादि मौन की भाषा।'

सागर की लहरें नाच रही हैं—दक्षिण हिन्दुस्तान की देवदासियों की तरह। इन लहरों को किस देवता की पूजा का शौक लगा है ? शिव की मूर्ति तो इस तट पर कहीं दिखाई नहीं देती।

: ४ :

रामायण में लिखा है कि रावण शिव की पूजा किया करता था। बुद्ध की लंका में भी शिव का पुत्र कन्दे स्वामी, जिसे हिन्दू-ग्रन्थों में कार्तिकेय कहा गया है, जनसाधारण के हृदयों पर बराबर राज्य कर रहा है। कन्दे स्वामी का अर्थ है पहाड़ का स्वामी। पहले यह देवता तीन चोटियों वाले पर्वत पर रहता था। एक दिन वह नीचे नदी के उस पार, जहाँ वृक्षों का झुरमुट नज़र आ रहा था, जाने के लिए व्याकुल हो उठा। तब वह केवल तामिल लोगों का देवता था।

एक दिन कुछ तामिल उधर से गुज़रे। देवता बोला: "ओ अच्छे लोगो ! मुझे नदी के उस पार तक ले चलो।"

वे बोले: "ओ भले देवता, हम नमक जमा करने जा रहे हैं। देर हो गई तो वर्षा आ जायगी और हमारा सब नमक घुल जायगा।" यह कहकर वे चलते बने। देवता नाराज़ हो गया।

फिर उधर से कुछ सिंहाली गुज़रे। देवता बोला: "ओ अच्छे लोगो ! मुझे नीचे ले चलो, उस नदी के पार।"

सिंहाली उसे नीचे ले गये। देवता खुश हो गया। उसने वरदान दिया कि भविष्य में सिर्फ़ सिंहाली नस्ल में से ही उसका बड़ा पुजारी चुना जायगा। आज तक यह वरदान

अटल है। कन्दे स्वामी के बड़े मन्दिर में, जो लंका के दक्षिण-पूर्व में कतरगाम में है, सिंहाली पुजारी चला आता है।

कोलम्बो में भी, जहाँ अलग-अलग जातियों के तीन लाख लोग रहते हैं, कन्दे-स्वामी के भक्त मिल जायंगे। तामिल लोग उसे 'सुबरमन्यम्' कहते हैं। जब धरती पर देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ था, तो देवताओं की फ़ौजी शक्ति का नेता यही देवता था। वह युद्ध का देवता है और मोर की सवारी करता है।

ट्राम में एक बौद्ध भिक्षु से भेंट हुई। पता चला कि वह मांस नहीं खाता। मैंने यह महसूस किया कि खुद बुद्ध भगवान् मेरे सम्मुख विराजमान हैं।

"अहिंसा के हामी और इस पर मांसहारी!" मैंने कहा—"आप लङ्का वालों को समझाते क्यों नहीं?"

वह केवल मुस्कराया। मैंने सोचा बुद्ध भगवान् भी इसी तरह मुस्कराते होंगे।

"लोग बाज़ार से मांस खरीदते हैं, खुद किसी जीव को नहीं मारते—वैसे खाने को उन्हें किसी भी तरह के मांस से परहेज़ नहीं।"—पास की सीट पर एक अधेड़ उम्र का आदमी बोल उठा।

बौद्ध भिक्षु को मैंने नमस्कार किया, तो वह फिर मुस्कराया।

वह अधेड़ उम्र का आदमी हँसने लगा। वह यही समझा कि उसने मुझे निरुत्तर कर दिया है।

ट्राम से उतर कर मैं श्री जे० विजयतुँग के यहां पहुँचा। "आइये, आइये!" वे बोले।

अपने घर के सामने वे घास पर टहल रहे थे। घास उन्हें सदा प्यारी रही है। अपनी पुस्तक का नाम रखते समय भी वे इसे भूले नहीं। सुन्दर नाम है—'मेरे पैरों के लिए घास।'

"अपने ग्रामके लोगोंको आपने छोटी नदी पर मछली पकड़ते दिखाया है," मैंने कहा, "आपकी पुस्तक में यह बात पढ़कर मैं तो चकित रह गया।"

वे हँसने लगे और फिर कुछ झेंप-से गए।

"आपने बहुत सुन्दर वर्णन किया है।"

"हाँ, हाँ, मैंने कुछ झूठ नहीं लिखा। मैंने सच-सच लिखा है। एक हमारे ग्राम में नहीं, अन्य ग्रामों में भी स्त्रियां रात का बचा-खुचा भात नदी में ला गिराती हैं। मछलियाँ उसे खाने के लिए लपकती हैं। तभी कोई स्त्री ऐसी चालाकी से उलटी हाँडी मछलियों के ऊपर फेंक कर बाहर निकालती है कि उसमें कभी-कभी चन्द-एक मछलियां रसोई की ज़रूरत के लिए आ फँसती हैं।"

"तो आप इसे ठीक समझते हैं?"

"अब यह मैं कैसे कहूँ?" वे कुछ झेंप-से गए।

अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है—"मछली पकड़ने का यह उपाय अहिंसा और मित्रता के आदर्श पर टिका हुआ है। ये मछलियाँ, जो रात का बचा भात खाती हैं, बारी

बारी से रसोई में पकाने के लिए पकड़ ली जायँ ,तो कोई पाप थोड़े ही है ?"

मज़हब के साथ आदमी का यह मज़ाक बहुत पुराना है ।

: ५ :

यह गाड़ीवान गांव का आदमी है । इसकी आवाज़ बांसुरी के स्वरों से मिलकर बनी है । कोलम्बो की सड़क पर पहुंच कर भी उसने अपने गांव को भुला नहीं दिया । मालूम होता है, वह अभी-अभी किसी स्वप्न से जागा है । वह गा रहा है—

—'अन्धकार में जुगनू उड़ रहे थे
उनके पंखों से टिमटिमाती रोशनी आ रही थी
और किसी की मासूम-सी मधुर आवाज़ मेरे कान में पड़ी—
'अजी ओ ! तुम उसके ध्यान में क्या सोचने लगे हो ?'

केवल गांव की किसी लड़की की आवाज़ ही गाड़ीवान के कानों तक पहुँची थी । यह आवाज़ उसका प्यार जगा गई । पर उसका मित्र, जो खुद शायद प्यार की दुनिया से परिचित नहीं, हैरान हो रहा है । उसे क्या मालूम कि प्यार सिर्फ रोशनी में ही नहीं पैदा होता ।

गाड़ीवान अपने बैलों को भी नहीं भूलता । वह गा रहा है—

—'दूसरों का पेट पालने के लिए तुम दुःख-सुख उठाते हो
दिन-रात काम करते हो, मार सहते हो
दर्द की टीसें उठाते हो
अजी ओ बैल, कितने ही आदमी तो तुमसे भी कम महत्व रखते हैं !'

पर कोलम्बो शहर के वातावरण में लोकगीत की आवाज़ बहुत अजनबी मालूम होती है । लारियों के ड्राइवर छकड़े को देखते हैं तो मुंह फेर लेते हैं और हँस पड़ते हैं । गाड़ीवान लारी का हार्न सुनता है तो सहम जाता है—वह भी और उसके बैल भी, जिन्हें गीतों में वह बार-बार सम्बोधन करता है ।

सिंहाली लोकगीत के स्वर मेरी ज़बान पर चढ़ रहे हैं । बरसात में जैसे गीले खेतों की सुगन्ध उठती रहती है, उसी तरह किसी भी देश के लोकगीत की प्रतिभा हम तक पहुंचती है और हमें मोह लेती है ।

कुछ गीत तो मुझे कोलम्बो में ही मित्रों के सहयोग से प्राप्त हो गए हैं । अब मैं लंका के विभिन्न भागों की यात्रा करूँगा । जब मुझे लंका से विदा लेकर हिन्दुस्तान लौटना होगा, तो मैं विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की एक कविता में दुनिया की बजाय लंका बदलकर कह उठूंगा—

—'ओ मेरी लङ्का ! मैं तेरे तटपर अपरिचित की भांति आया । मैं तेरे घर में अतिथि बनकर रहा । और अब मैं तेरे द्वार से मित्र बनकर विदा लेता हूँ ।'

'यह रावण की लङ्का है या बुद्ध भगवान् की ?'

'दोनों की, कविता !'

'सचमुच ?'

'सचमुच ! और इससे भी सच तो यह है कि लङ्का तुम्हारी भी है, तुम्हारी माता की भी और मेरी भी।"

हम तीनों समुद्र के किनारे बैठे हैं—मैं, मेरी पत्नी जयजयवन्ती और बेटी कविता वसुमती। सामने असीम सागर, अपने अनादि नृत्य में। यह सड़क, जो किनारे-किनारे चली गई है और जिसका रंग मज़दूर के जमे हुए लहू की तरह काला है, कोलम्बो के तीन लाख लोगों के सुख-दुःख की ही नहीं हमारे सुख-दुख की भी अमानतदार है। सड़क ही नहीं, यह फुटपाथ भी, जो बराबर उभरा हुआ है—किसी दुखयारी की आंख की तरह, जो लगातार रोने से सूज गई हो।

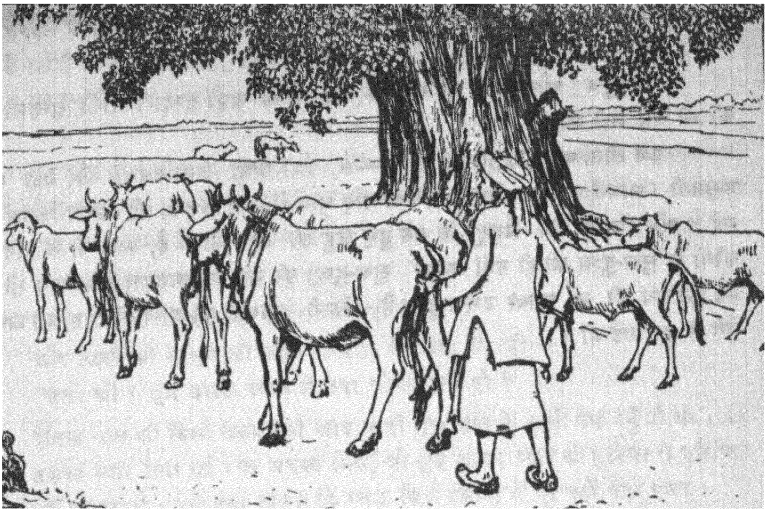

पृथ्वी पुत्र

बचपन की खुशियां, जिनके निशान मेरे हृदय पर अब भी कायम हैं, हमारे इस बूढ़े वट-वृक्ष को भी याद होंगी। किसी दिन यह वृक्ष जवान था और इसकी भावनाएं किसी किसान दूल्हे के मीठे सपनों से भी मनोहर थीं। उन दिनों शायद इसकी छाया इतनी घनी न थी। पर जहां तक मेरी याद का सम्बन्ध है, मैंने इसे बुढ़ापे की दशा से ही गुजरते देखा है। कभी-कभी मैं सोचता हूं, इसका रूप आज भी वैसा ही है जैसा उस रोज़ होगा जब मैं पहली बार इसकी छाया में आ बैठा था।

दिन-दिन, पल-पल इस वृक्ष ने पथिकों की बातें सुनी हैं। वह चुप है ज़रूर, पर उसे लोक-जीवन की सैंकड़ों घटनाओं का पता है। सैकड़ों जाड़ों, गरमियों और बरसातों की कहानियां, अमीरी ग़रीबी की खींचातानी, अनगिनत झगड़े और तमाशे—इन सबने उसके हृदय पर बेहद सूक्ष्म निशान छोड़े हैं। इसके नीचे का कच्चा चबूतरा, जो अब आधे से ज़्यादा टूट-फूट गया है और जिसके प्रति शीतल छाया का मज़ा लेने वाले चरवाहे और किसान लड़के अपनी कोई जिम्मेदारी महसूस नहीं करते, पहले बहुत सुन्दर था। यहां बैठकर मैंने अनेक बार इस वृक्ष के कांपते पत्तों की ओर टकटकी लगाकर देखा था। कई-बार तो मैं इसके तने से इस तरह लिपट गया था, जैसे अपने मासूम हाथ फैलाकर मैं अपने पिता की टांगों से जा लिपटता था।

हमारे गांव के इतिहास के साथ इस बूढ़े वट-वृक्ष का यह अटूट सम्बन्ध किसी विशेष व्याख्या का मुहताज नहीं। सदा से आदमी और वृक्ष के बीच प्रेम की सूक्ष्म

भावना कायम है और यह सम्बन्ध सदा कायम रहेगा। वृक्ष तो हमारे गांव के चारों ओर बीसों नहीं सैकड़ों हैं, पर जो सन्तोष मुझे इस बूढ़े वट-वृक्ष के नीचे बैठकर मिलता है, और कहीं नहीं मिलता। कभी-कभी तो मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि वह गहरा सांस ले रहा है और पथिकों की ओर से निगाह फेर कर मेरी ओर देख रहा है। उसकी निगाहों में एक ठोस सचाई भरी है—वही सचाई जो कठिन परिश्रम के बाद छाया में बैठे किसान और मज़दूर को शताब्दियों से महसूस होती रही है।

यह वृक्ष यहां न होता तो पास का यह नहर का पुल बिलकुल बेरौनक होता। नहर सरहन्द की यह छोटी शाखा जिस पर सैर करने के लिए मैं खुशी-खुशी चला आता हूं, बहुत पुरानी नहीं। इसे इधर आये चालीस साल हुए होंगे। जब खुदाई का काम हो रहा था, मजदूरों और मजदूरनियों के पसीने से तर मस्तक देखकर, उनके हंसी मज़ाक और गाली-गलौज को सुनकर, उनकी छिपी हुई भावनाओं में मनुष्यता की मौलिक अनुभूति पाकर यह वट-वृक्ष बहुत तृप्त हुआ होगा। और फिर जब यह पुल बनना शुरू हुआ था तो ठेकेदार और सरकारी इञ्जीनियरों में घूंसखोरी देखकर सभ्यता और सरमायादारी का सार भी उस पर खूब खुल गया होगा।

पृथ्वी में जकड़े हुए वृक्ष चलने की इच्छा रखते हैं और आदमी एक ऐसे स्वर्ग की अभिलाषा में भटकता फिरता है, जहां से मुकुटधारी देवता भी मुक्त होने के लिए व्याकुल हैं!

क्या हमारा यह बूढ़ा वट-वृक्ष भी चलने की इच्छा रखता है? ऐसी अच्छी ठौर इसे और कहां मिलेगी?

वह एक राही जा रहा है। बुढ़ापे के मारे बेचारे की देह कांप रही है। वह ज़रा रुक क्यों नहीं जाता? इतनी भी क्या जल्दी है?

आ जाओ सरदार जी, ज़रा विश्राम कर लो।

मेरी आवाज शायद राही तक नहीं पहुंची। वह चला गया। दूर, बहुत दूर। बूढ़ा वट खामोश खड़ा है।

मैं भी तो सपनों के क़िले बना रहा हूँ। चाहता हूँ दूर क्षितिज के पास जा पहुंचूं, जहां नींद की परियां लोरियां गा रही हैं। बूढ़ा वट खामोश खड़ा है। शायद वह कहना चाहता है: 'देख किस तरह अपनी बाहें फैला रखी हैं मैंने तेरे चारों ओर। क्या मेरी छाया की लोरियां सुन्दर नहीं?'

जब तक यह वट-वृक्ष यहां खड़ा है तब तक यह धीरे-धीरे हर किसी के कान में कहता है: 'स्नेह और बड़प्पन एक ही सुन्दरी के दो गाल तो हैं।' टकटकी लगा कर मैं इसकी चोटी की ओर देखने लगता हूँ।

वृक्ष के शान्त स्नेह में वे ग़लत-फहमियां कहां जो आदमी के संसार में पग-पग पर नज़र आती हैं?

कोई किसान छोकरी गा रही है। चोटी के पत्ते जगमग-जगमग कर उठे। पंजाबी भाषा का यह गीत सैकड़ों वर्षों से दिलों की यात्रा करता आ रहा है!

टुट्ट गये त्रेल दे मोती
पैलां पौंदी दे।

—'ओस के मोती टूट गए,
मैं तो मोर की तरह नाच रही थी।'

'रात ने सूर्य से कहा—तुम चांद के हाथ प्यार के पत्र भेजा करते हो। मैं उनका उत्तर ओस के रूप में घास पर छोड़ जाती हूँ।'—रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहीं लिखा है।

गांव की कन्या यह जानती तो यों अपने पैरों के नीचे ओस के मोती न तोड़ देती। बूढ़ा वट शायद पृथ्वी की इस पुत्री को पुकार-पुकार कर कहना चाहता है—तुमने ओस के मोती क्यों तोड़े?

यह लो, दो बच्चे चले आ रहे हैं। घर पर मां-बाप घुड़कियां देते हैं। पर बूढ़े वट के पास केवल शान्त स्नेह है, जो उनके मन में गड़ता चला जाता है। सूर्य की ओर मुंह किये वे गा रहे हैं—

सूरजा मूरजा
झग्गा देऊँ टोपी देऊँ
तेड़ नूं लंगोटी देऊँ
करारी धुप्प कड्ढ दे।

—'ओ सूरज मूरज!
मैं तुम्हें कुरता दूंगा, टोपी दूंगा
कमर के लिए लंगोटी दूंगा
तेज धूप निकाल दो।'

बच्चों की किलकारियां सुनकर बूढ़े वट-वृक्ष की ख़ामोशी में कुछ अन्तर नहीं आता। सैकड़ों बच्चे बारी-बारी यहां आते हैं। 'छोटे बच्चों को मेरे पास आने दो। स्वर्ग का राज्य उनमें ही है!'—मसीह का यह बोल मेरे मन में गूँज उठता है।

स्कूल मास्टर बच्चों को डांट कर कहता है—सबक़ क्यों नहीं याद किया? बूढ़े वट-वृक्ष के नीचे छलांगें मारने से क्या लाभ?

बच्चों को यह हिदायत फ़ज़ूल प्रतीत होती है। सदियों से वे सूर्य के लिए कुरते, टोपी और लंगोटी की भेंट लिये हाज़िर रहे हैं। शर्त यही है कि वह जाड़े में ज़रा तेज चमके और बच्चों के चारों ओर गरम किरणों का जाल बुन दे।

बूढ़ा वट एक मस्त कवि की तरह खड़ा रहता है। किसानों के गीतों का वह पुराना सरपरस्त है, पृथ्वी-पुत्रों की अमीरी-ग़रीबी का चश्मदीद गवाह है। शायद वह उनके दिलों की बातें भी भांप लेता है—

पिप्पल गावे बोहड़ गावे
गावे हरियाला तूत।
खड़ के सुन, राहिया!
तेरी रूह होजूगी सूत।

— पीपल गाता है, बड़ गाता है,
हरियाला शहतूत गाता है।
खड़ा होकर सुन, ओ राही!
तेरी रूह ठीक हो जायगी।'

बिरछां दे गीत सुन के
मेरे दिल विच्च चानण होगया।

—'वृक्षों के गीत सुन कर
मेरे दिल में प्रकाश हो गया।'

मस्त हवा मे, जादू-भरे वातावरण मे, जब वसन्त की देवी ललचाई निगाहों से एक-एक वृक्ष और पेड़-पौधे की ओर झूमती इठलाती चली आती है, पृथ्वी की रग-रग में मधु-भरा संगीत समा जाता है। आत्मविस्मृति की अवस्था में शायद हर वृक्ष कुछ-न-कुछ गुनगुनाता है।

शांत घड़ियों मे पत्तो की मामूली सरसराहट सुनकर भी राही के सन्मुख अक्सर वृक्ष का हृदय खुल जाता है। वृक्षों के संसर्ग मे, उनकी भाव-भरी सरसराहट से प्रभावित होकर आदमी हमेशा पृथ्वी के गहरे भेद पा लेता है।

न अकेला आदमी भला, न अकेला वृक्ष। गांव का कवि हमेशा अपनी राय देता आया है:

कल्ली होवे न वणां विच्च टाहली
कल्ला न होवे पुत्त जट्ट दा।

—'शीशम भी जंगल मे अकेला न हो,
और न इकलौता बेटा हो किसी किसान के घर मे।'

लोकगीत गांव के वातावरण में गूंजते रहते हैं—पृथ्वी के गीत, वृक्षों के गीत—

बेरियां नूं बेर लग्गदे
तैनूं कुज्झ न लग्गा, मुटियारे!

—'बेरियो पर बेर लगते हैं,
पर तुझे कोई फल न लगा ओ युवती!'

रुत्त यारियां लौण दी आई,
बेरियां दे बेर पक्क गये।

—'मित्रता लगाने की ऋतु आ गई।
बेरियों के बेर पक गए।'

मैंनूं कल्ली नूं चुबारा पा दे
रोही वाला जण्ड वड्ढ के ।

—'मेरे लिये अलग चौबारा बनवा दो।
बियावान के जण्ड को काट कर (शहतीर बना लेंगे) ।'

वेहड़े ला तरवेणी,
छॉवें बैह् के कत्तया करूं ।

—'आंगन में एक साथ तीन वृक्ष लगा दो ।
उनकी छाया में बैठ कर मैं चरखा काता करूंगी ।'

थड़ियां बाझ न सोंहदे पिप्पल
फुल्लां बाझ फुलाहियां
हस्सां नाल हमेलां सोंहदियॉ,
बन्दॉ नाल गजराइयां
'धन्न भाग मेरे' आखे पिप्पल
'कुड़ियां ने पींघॉ पाइयॉ ।'
सौण विच्च कुड़ियां ने
पींघॉ असमान चढ़ाईयां ।

—'चबूतरों के बिना पीपल सुहावने नहीं लगते
न फूलों के बिना फुलाही के वृक्ष,
हस्सों के साथ हमेलें भली लगती हैं,
बन्दों के साथ गजराइयां ।
'मेरा अहो भाग्य'—पीपल कहता है,
'कन्याओं ने मुझ पर झूले डाले ।'
सावन में कन्याओं ने,
अपने झूले आसमान की ओर बढ़ाए ।'

'बिरछा बिरछा ' तोता बोलया
'इक्के तेरी जिमीं भैड़ी
इक्के तेरा मुडढ पुराणा ।'
न मेरी जिमीं भैड़ी
न मेरा मुड्ढ पुराणा ।
इक्के खादा नवाब दीयां डाचियां
इक्के शतीर कप्प खड़े तरग्वाणां
तरग्वाणां दे मरगा बन्नचड़े
आवण ठुक ठुक मकाणां

मरण नवाब दीयां डाचिया
नाले आपूं मरे नवाब सियाणा !

—'वृक्ष ओ वृक्ष'—तोता बोला
'एक तो तेरी भूमि बुरी है
दूसरे तेरा तना पुराना है ।'
न मेरी भूमि बुरी है
न मेरा तना पुराना है ।
एक तो मुझे नवाब की ऊंटनियां खा गईं
दूसरे तरखान शहतीर काट ले गये
तरखानों के बच्चे मर जायं
उनके सम्बन्धी मातमपुर्सी को आयें
नवाब की ऊंटनियां मर जांय
और वह सयाना नवाब स्वयं भी मर जाय !'
लोकगीतों ने बार-बार पृथ्वीपुत्रों को गुदगुदाया है।

बच्चे की तरह मैं इस बूढ़े वट की गोद में चला आता हूं। खेतों से लौटते हुए किसानों के गीत रहस्यपूर्ण ख़ामोशी को चीरते हुए मुझ तक पहुंचते हैं।

दिन बीत जाता है और रात स्त्री की तरह, जो अपने कन्धों पर केश बिखराए बैठी हो, पृथ्वी को अपने अंचल में छिपा लेती है।

रात के बढ़ते हुए अन्धकार में हमारा यह वट-वृक्ष, जो मेरे बूढ़े दादा की तरह काला कम्बल ओढ़े खड़ा रहता है, अपने भावों में खो जाता है, और घर जाने से पहले मैं इस बूढ़े वृक्ष के तने से एक दो घड़ियों के लिए लिपट जाता हूँ।

अपना मन-भाता पुराना गीत गाता हुआ मैं नहर का पुल पार करके घर की राह लेता हूं—

नदी किनारे रुक्खड़ा खड़ा सी अमन अमान
डिगदा होया बोलया—जी दे नाल जहान !

—'नदी के किनारे वृक्ष अमन अमान से खड़ा था ।
गिरता हुआ वह बोला—जान के साथ जहान है।'

वे सब फूल जो कल रात अपनी भीनी-भीनी सुगन्ध से लिपट कर सो गए थे, अब जाग उठे हैं। बूढ़े वट-वृक्ष ने भी काला कम्बल उतार फेंका है।

एक नहीं, दो-चार नहीं, बीसियों किसान अपने-अपने बैल लिये नहर के पुल से गुज़र रहे हैं, जल्दी, बहुत जल्दी । कोई मूँछों पर हाथ फेर रहा है। कोई आंखें मल रहा है।

'सूर्य भगवान को लाख-लाख नमस्कार।'

'हां हां, सूर्य को मेरा भी नमस्कार। वह रोज़ चमकता है।'

'इस बूढ़े वट देवता को भी मेरा नमस्कार।'

'मेरा भी।'

सदा सेमानव औरवृक्ष के बीच मे प्यार की एक सूक्ष्म भावना चली आती है, और यह सम्बन्ध हमेशा क़ायम रहेगा। पृथ्वी में जकड़े हुए वृक्षों की रगों में लहू दौड़ रहा है, कभी तेज चाल से, कभी धीरे धीरे—मानव के लहू की तरह।

हमारे बूढ़े वट-वृक्ष की जड़ें पृथ्वी की नब्ज़ पहचानती हैं।

कितना असीम है जीवन का विस्तार—मानव और वृक्ष दोनों पृथ्वी पुत्र हैं।

बूढ़ा वट-वृक्ष एक अनुभवी और बुजुर्ग की तरह खड़ा हमारे गांव को देख रहा है।

देसां मां देस हरियाना

हरियाना-प्रवास के पहले रोज़ ही एक ग्राम में मुझे यह लोकोक्ति प्राप्त हुई—देसां मां देस हरियाना, जिते दूध दही का खाना । और मैंने हरियाने की गाय देखी, उसके स्वास्थ्य का, उसकी अधिक-से-अधिक दूध दे सकने की सामर्थ्य का बखान सुना, तो मन ने इसे 'दूध दही की धरती' मान लिया । यहां किम्वदन्ती है कि एक बार स्वयं गोपालकृष्ण इधर आ निकले थे, और तभी से यह हरियाना—हरि (कृष्ण) की भूमि—कहलाया । कृष्ण ने यहां के दूध की प्रशंसा की थी, यहां के दही को सर्वोत्तम बतलाया था; पर वह ब्रज को छोड़कर सदा के लिए इधर न बस सके थे, इधर गोपियाँ न थीं, न राधा उनके साथ इधर आने को तैयार थी । कृष्ण की मुरली की गूँज अब भी बाकी है, और गाय के कान उसे पूर्णमासी की खामोश रात में कभी-कभी अब भी सुन लिया करते हैं । लोक-कथा तो यह भी बतलाती है कि तब गाय मुँह ऊपर करके वेदनामय आवाज़ निकालती है, जैसे वह उस गोपाल को फिर से बुला रही हो, जैसे वह उसे अपनी वर्तमान रक्षा-हीनता पर चार अश्रु गिराने को कह रही हो । और मैंने हरियाने के लोकगीत की विषाद-रेखा में गाय को करुण पुकार का कुछ अंश देखा भी है ।

हरियाना—गुड़गाँव, हिसार, रोहतक, करनाल का प्रदेश—बांगर, नहरापुर और खादर, तीन भागों में बाँटा जा सकता है । बाँगर का खेत हमेशा बादलों का आसरा ताकते हैं; जब नहर नहीं निकली थी, नहरापुर का भी प्रायः यही हाल था; खादर वह भाग है जो जमुना के साथ-साथ चला गया है, जमुना की कछार से इसका जन्म हुआ था । बांगर का

प्रेम और यौवन से ऊपर नहीं उठता, जैसे गाने योग्य केवलमात्र यही एक भूमि हो। यह अपना एक-एक शब्द श्रोतामण्डली पर प्रभावमय वातावरण फैलाता है, और जनता एक शरीर और सैकड़ों सिरों के साथ कोहरे में से झाँकती ऊषा का आवाहन करती है। सांगी का गीत समस्त लोक जीवन मे गूँज उठता है :—

तेरा मारिया ऐसे रोऊँ जिसा झरता मोर बनी का
तेरे पाइयाँ माँ पायल बाजे जिसा बाजे बीज सणीं का
थोड़ा सा नीर पला दै, प्यासा मरता दूर घणीं का।

—'तेरे सौन्दर्य से घायल होकर मैं बन के मोर की तरह रोता हूँ
पाजेब तेरे पैरो में ऐसे बजती है, जैसे सन के बीज झंकार करते हैं
अरी ओ थोड़ा सा जल पिला दो मुझे, दूर का पथिक हूँ मैं, प्यास से व्याकुल।'

संसार की बहुत सारी कविता किसी प्यास का गान है। पथिक की आवाज़ क्या यों ही हार कर रह जाती है ? यह घायल करने वाला सौंदर्य आख़िर क्या अर्थ रखता है ? सन के बीजों की पायल पहने मुग्ध पनिहारी पथिक को क्या समझती होगी ? शायद वह स्वयं किसी प्यासे पथिक की प्रतीक्षा में थी। और सांगी का यह गान आदम और हव्वा का गान हो उठता है। उसकी उँगलियों में फुरती आ जाती है, और कंठ में बल और वेग ही नहीं आते, मृदुलता भी आती है। सौन्दर्य में इतनी हिलोर क्यों रहती है ? और यह स्वच्छन्द पुष्प कुएं के समीप कब से खिलता आया है ? सौंदर्य हमेशा से ही एक नई दिशा क्यों बताता आया है ? पुरुष सदा से नारी को इसी रूप में देखता आया है। नारी कहती है—

में हरी-हरी दूब खड़ी सेओं !
—'मै तो यहां उगी हुई हरी दूब हूं।'

लम्बा कथागीत सांगी का प्रिय सखा है। वह 'सांग' (स्वांग) कहलाता है। किसी समय यह गीत जीवित नाट्य-रूप लिये रहा होगा। जीवन-रस की कमी ने इसकी पहली शान बरकरार नहीं रहने दी। गीत-नाट्य में यदि जीवन के चिर-सत्य की प्रतिष्ठा न की जाय, तो वह अधिक नहीं जी पाता। जब लोक-जीवन में धरती-सी अटूट सादगी थी और गेहूँ की रोटी की-सी पुष्टि थी, सांगी दुनिया भर को अपने गीत में समेट लेने की शक्ति रखता था। लोक-जीवन की पूर्ण रूप-रेखा ही बस सांगी की दुनिया होती थी, यह बात नहीं; परी-देश का आंचल तथा देवताओं की कहानी का ताना-बाना भी सारंगी के तारों को छू जाते थे। एक दिन लास्या और तांडव दोनों ने ही इसे अपना-अपना स्पर्श प्रदान किया था। एक छोटा गीत 'कड़ा', भी लोकप्रिय हुआ है। रागनी, एक दूसरा छोटा गीत जिसका प्रत्येक भाग 'कली' कहलाता है, जाट-गान का एक उज्वल अङ्ग है। इन्द्रधनुष के सभी रंग इसके हिस्से आये हैं। नारी के गीत ने विभिन्न छन्द-प्रवाह धारण किये हैं। खेत

और घर-गृहस्थी की बहुमुखी कार्य-प्रणाली के पीछे जो एक ताल रहता है, उसीके उतार चढ़ाव के कई रूप उसके गीत की पृष्ठभूमि में समा गए हैं।

सांगी ने अनेक बार 'साँग' के अलावा दूसरे गान को अपनाया है। प्यासे पथिक का गीत सारंगी पे बहुत मेल खाता है—

जाट का मैं लाडला तिरखा लगी सरीर
अगन लगी बुझती नईं, बिना पिये जल-नीर
बिना पिये जल नीर,—रस्ते में कुयाँ चुनाया
किस पापी ने यै जुलम कमाया, उसपै डोल ना पाया !

—'मैं जाट पिता का लाड़ला पुत्र हूँ, मुझे प्यास लगी है।
लगी आग पानी पिये बिना नहीं बुझती
पानी पिये बिना, —रास्ते में पक्का कुआँ बना है
किस पापी ने यह जुल्म किया कि इस पर डोल नहीं रखा ?'

प्यासे पथिक को फिर हम किसी अगले कुएँ पर पनिहारी युवती से पानी पीते देखते हैं—

थोड़ा-सा नीर पिला दै, बाकी घाल मेरे लोटे मैं
अरे तूँ भले घराँ की दीखै, तन्ने जन्म लिया टोटे मैं
तू मेरी माथ होलेगै, दामन मढ़वा दिऊँ घोटै मैं !

—'थोड़ा सा जल मुझे पिला दो, बाकी डाल दो मेरे लोटे में
अरी ओ, तुम तो भले घर की दीखती हो; बड़े टोटे में तुमने जन्म लिया हो जैसे
चलो, मेरे साथ हो लो, मैं तुम्हारे लहँगे को गोटे से मढ़वा दूंगा।'

न जाने वह मुग्धा पनिहारी उत्तर क्यों नहीं देती ? जल तो उसने पिला ही दिया होगा; पर क्या पथिक तृप्त हृदय से अपनी मंजिल पर चला होगा ? चलता-चलता भी वह एक और गीत गाता गया—

रूप तेरा चन्दा-सा खिल रिया, बे ने घड़ी बैठके ठाली
कर तावल वार भाजरी, जिसी दारू माँ आग लाग री
कलियाँदार घाघरी, पतली कम्मर लचकत चाली।

—'चाँद-सा तेरा रूप खिल रहा है, फुरसत में भगवान ने तुझे घड़ा होगा।
युवती भागकर दूर निकल गई, जैसे शराब में आग लग गई
कलीदार लहँगा पहने वह पतली कमर को लचका कर चली गई।'

पनघट पर घड़ों की भांति ही न जाने कितने हृदय टूटे होंगे ! पनिहारी को लोक-गीत में एक चिरस्थायी स्थान मिला है।

नारी को लोकगीत में इतना अधिक स्थान क्यों ? खेत की मेंड पर बैठा किसान युवक अपनी प्रेयसी को झरने के पास का फूल दिखाता है। झरने हरियाने में नहीं होते, कल्पना के संसार में तो झरनों की कमी नहीं—

मैं बैठ्या खेत कै डोले पै
कित जासै सिखर दुपहरे नै ?
मेरी जान कालजा खटकै
मत जाइए जी, जी भटकै
लिये देख चार घड़ी डटके
खसबू आरई फूल झारे मैं।

—'मै खेत की मेढ़ पर बैठा हूँ
इस प्रखर दोपहरी में तू कहां जा रही है
प्रिय, मेरा हृदय धड़क रहा है
तू जा मत, मेरा जी भटकता है
खड़ी होकर चार घड़ी देखती जा
झरने के फूल की सुगन्ध फैल रही है।'

ईख की निराई करती हुई कन्या के गान मे स्वाभाविकता की हवा बहती है—

बहुत सताई ईखड़े रै तैंने बहुत सताई रे
बालक छाड़े रोमते रै, तैंने बहुत सताई रे
डालड़ी मैं छाड्या पीसना
और छाड़ी सलागड़ गाय
नगोड़े ईखड़े, तैंने बहुत सताई रे
कातनी में छाड्या कातना
और छाड़सें बाप और माय
नगोड़े ईखड़े तैंने बहुत सताई रे
बहुत सताई ईखड़े रै, तैंने बहुत सताई रे
बालक छाड़े रोमते रै, तैंने बहुत सताई रे

—'बहुत सताया है, ईख, तूने मुझे बहुत सताया है
पीछे घर में मैं बालकों को रोता छोड़कर आई हूँ, तूने मुझे बहुत सताया है
डलिया में अनाज पड़ा है,
दूध देती गाय को भी बिना दूहे ही छोड़ आई
निगोड़ी ईख तूने मुझे बहुत सताया है

कतनी में पूनियाँ भी बिना काते ही छोड़ आई
माता-पिता को छोड़ कर चली आई
बहुत सताया है ईख, तूने मुझे बहुत सताया है।
पीछे घर मे बालको को रोता छोड़कर आई हूं, तूने मुझे बहुत सताया है।'

श्रमिक जातियों की स्त्रियाँ और कन्याएँ प्रायः किसान के यहाँ निराई का काम करने आती हैं; पर इससे उन्हे हमेशा भरपेट मज़दूरी नहीं मिल पाती। किन्तु क्या कन्या का यह गान ग़रीबी की पुकार है? क्या यह ईख के प्रति दुलार-भरा उलहना नहीं है, जो उसे घर की बन्द हवा से बाहर बुलाती है? इस मानवी प्रेम से शायद उसका हृदय सरस हो उठेगा, इसीसे शायद ईख अधिक रसमय होकर उगेगा।

बाजरे की खेती में जुटा हुआ किसान बाजरे के दिल की बात बूझ लेता है। बाजरा क्या यों ही उगता है? यों ही पकता है? बाजरा खूब जानता है कि उसका जन्म किसान-कुलवधू को पुष्ट करने के लिए हुआ है। वह बड़ा अलबेला है। वह कहता है—

बाजरा कहे मैं बड़ा अलबेला
दो मूसल से लड़ूँ अकेला
जो तेरी नाजो खीचडा खाय
फूल-फाल कोठी हो जाय।

—'बाजरा कहता है, मैं बड़ा अलबेला हूँ
दो मूसलों से अकेला ही लड़ता हूँ
यदि तेरी कोमलांगी पत्नी मेरी खिचड़ी खाय
तो वह फूल-फाल कर अनाज की कोठी सरीखी नज़र आय।'

किसान-कुलवधू को बाजरे का यह कथन हमेशा याद रहता है। जुआर बेचारी क्यों कुछ नहीं बोली? शायद वह लजा गई। पर इससे क्या? किसान-कुलवधू जुआर को भी सदा से अपने संस्मरण में जगह देती आई है। बाजरा और जुआर दोनों पति-पत्नी हैं। एक जाट लोककथा में यह बात आई है—बाजरा एक शाहजादा था और जुआर के अमोघ सौन्दर्य पर रीझ कर उसने उसे बाद में अपनी पटरानी बना लिया था और मरने के बाद वे खेत में साथ-साथ उगने लगे। आषाढ के अन्त मे बाजरा और जुआर बोये जाते हैं। दोनों पर श्यामल मेघ एक साथ बरसते हैं। और खेत मे किसान के लिए भोजन लाते समय नारी के हृदय में यह जान लेने की आकांक्षा उत्पन्न होती है कि बाजरा कहाँ बोया गया है और जुआर के लिए कौनसी जगह चुनी गई है। शायद बाजरे के-से श्यामल किसान के लिए नारी का रूप जुआर कि तरह निखर उठना चाहता है, एकदम गौरवर्ण होकर, फूलकर—

कोई बरसन लागी काली बादली!
"डौलै तै डौले, हालीड़ा, मैं फिरी

मन्ने किते न पाया थारा खेत।"
बरसन लागी काली बादली !
"कोई चार बुलदांका, हालीड़ा, नीरना
दोए जणिएँ की छाक !"
बरसन लागी काली बादली !
"कोई ऊँचै तै चढ़ कै, गोरी धन, देखे लियो
म्हारे गोरे बुलद कै टाल।"
बरसन लागी काली बादली !
"कितरज बोया, हालीड़ा, बाजरा?
कोई कितरज बोई जवार ?"
बरसन लागी काली बादली !
"थलियां तै बोया, गोरी धन, बाजरा,
कोई डेराँ बोई जवार।"
बरसन लागी काली बादली !

—'कोई काली बदली बरसने लगी है।
"अजी ओ किसान, मैं मेंढ़-मेंढ़ पर घूमी-फिरी,
तुम्हारा खेत मुझे मिलने में ही नहीं आता।"
काली बदली, बरसने लगी है
"चार बैलों के लिए तो मैं भूसा लाई हूँ,
दो आदमियों के खाने लायक 'छाक' लाई हूँ।"
कोई काली बदली बरसने लगी है।
"गोरी धन, ज़रा किसी ऊँची मेंढ़ पर चढ़कर निहार लो।
मेरे गोरे बैल के गले में बड़ी घंटी भी तो बज रही है।"
काली बदली बरसने लगी है।
"अजी ओ किसान, किस तरफ तुमने बाजरा बोया है ?
और कहां बोई गई है जुआर ?"
काली बदली बरसने लगी है।
"गोरी धन, ऊपर के खेत में बाजरा बोया है,
निचले खेत में जुआर बोई है।"
कोई काली बदली बरसने लगी है।

यह क्या ? जुआर खेत में भी निचली भूमि में उगती है, बाजरा ऊपर के खेत मे जा विराजा है। अभी वे स्त्री-पुरुष की बात नहीं भूले। एक किसान ने मुझे बाजरे और

जुआर की मानव-जन्म की कथा सुनाते हुए बताया था कि जुआर स्वयं अपनी पुरानी संस्कृति को बनाए रखना चाहती है।

जब 'हरियाली तीज' का गान सावन की फुहार में भीगना चाहता है, कुलवधू अपने नैहर जाने के लिए लालायित हो उठती है। कितनी पुरानी होगी यह हरियाली तीज ? सीता ने भी इसे मनाया होगा, दमयन्ती ने भी ! कितने सावन देखे होंगे नारी के इस त्योहार ने ! वृक्षों पर हिंडोले पड़ जाते हैं, दिन-दिन भर झूलते बीतता है। मल्हार के स्वर हृदय में बस जाते हैं। कुलवधू की चुनरी और इन्द्रधनुष में होड़ लगती है। पर हरियाली तीज के गान में करुण-रस को भी स्थान मिलता है। हरएक कुलवधू नैहर नहीं जा पाती थी। 'सरिहल रानी' का गान शायद किसी लम्बे दुःखान्त काव्य का एक भग्नावशेषमात्र है। ज़रूर इसका कथानक बहुत लम्बा रहा होगा—

सामण आयो रंगलो कोई आई रे हरियाली तीज !
सास म्हारी प्यारी, गजब की मारी,
मोकै तौ खंडा दै पीहर को, म्हारी लाड सासुला, प्यारी !
नईं आया थारा नाई बामण, न माँ-जाया वीर,
राजा की रानी, जहार की रानी,
तो कै आड़ै ई घड़ा देऊँ पालणो,
म्हारी लाड बहुरिया प्यारी !
बिगर बुलाई धन जायगी घट जायगो आदर-भाव,
राजा की रानी, जहारकी रानी,
तू आड़ै ई सामण मान, मेरी लाड बहुरिया प्यारी !
ऊँचै तै चढ़कै देख रइ, तोकै दिवर कहूं कै जेठ ?
सुघड़ खाती कै, बगड़ खाती कै,
चन्नण को घड़ लिया पालनो, जामें झूले सरिहल रानी।
अजी आठ खुराड़ा नौ जना,कोई दग दग जायँ बन को
राजा की रानी, जहार की रानी,
ऊँची पाल तलायो की, जिते खड़रिया चन्नण को पेड़।
खाती आता देख कें कोई रोया छाती पाड़
बिरछ को पौदा, चन्नण को पौदा
डाल-डाल म्हारी काट लै, रै मत काटे जड़ से पेड़।
पहलो खुराड़ो मारियो, कोई निकसी दूध की धार।
राजा की रानी, जहार की रानी
एकासे दूजो दियो, जासे निकसी खूना धार।
हरी-हरी चुरियां गोरी-गोरी बहियाँ, कुन पै कियो सिंगार।

राजा की रानी, जहार की रानी,
थारो राजधन मर गयो, रै धरती माँ गयो समाय !

—'रक्त-भरा सावन आ गया है, हरियाली तीज आ रही है
ओ मेरी प्यारी सास, ओ गज़ब की मारी सास !
मुझे नैहर भेज दो, ओ मेरी प्यारी लाडली सास !'
'न कोई नाई या ब्राह्मण तुझे लिवाने आया है, न मां-जाया भाई
ओ राजा की रानी, ओ जहार की रानी !
तेरे लिए यहीं पालना घड़वा देती हूं
ओ मेरी लाडली प्यारी कुलवधू !
बिना बुलाए जाने से तेरा आदर घट जायगा, ओ कुलवधू !
ओ राजा की रानी ओ जहार की रानी !
तू यहां ही सावन मान, ओ मेरी प्यारी लाडली कुलवधू !
मैं ऊँची अटारी पर चढ़कर देख रही हूं, तुझे देवर कहूं या जेठ ?
अजी ओ बढ़ई के सुघड़ बेटे !
चन्दन का पालना घड़ लाओ जिसपर सरिहल रानी झूला झूले
नौ आदमी हैं, उनके पास आठ कुल्हाड़े हैं, वेग से वन की ओर बढ़ रहे हैं
ओ राजा की रानी, ओ जहार की रानी !
तालाब की ऊंची पाल पर चन्दन का पेड़ खड़ा है।
बढ़ई आता देखकर चन्दन का पेड़ छाती फाड़ कर रो पड़ा।
नन्हा वृक्ष, चन्दन का वृक्ष।
'मेरी एक-एक डाल काट लो, अरे मेरी जड़ को तो मत काटो।'
पहला कुल्हाड़ा मारा, कोई दूध की धार निकली
ओ राजा की रानी, ओ जहार की रानी !
दूसरा कुल्हाड़ा मारने पर रक्त-धारा बह पड़ी।
हरी-हरी चूड़ियाँ, गोरी-गोरी बाहें, क्यों यह सिंगार किया है
ओ राजा की रानी, ओ जहार की रानी !
तेरा राजधन मर गया, धरती में समा गया।'

वृक्ष ने सोचा होगा, बढ़ई ने मेरा प्रस्ताव मान लिया है, वह मेरी जड़ न काटेगा। इसीसे आनन्दित होकर उसका हृदय दूध बनकर प्रकट हुआ। पर वृक्ष को भ्रान्ति हुई थी। ठीक दूसरा ही वार उसकी जड़ पर किया गया। मरता-मरता वृक्ष शायद एक अभिशाप देता गया, उसी के फलस्वरूप सरिहल की हरी चूड़ियाँ टूट गईं; वृक्ष की भाँति ही उसका पति भी बिन-आई मौत मर गया। और जब गश्ती गायक गाता है—

परदेसी आड़े से चलना, रे परदेसी !

—'अरे परदेशी ! एक दिन यहाँ से चल देना होगा ।'

तो वह शायद चन्दन वृक्ष तथा जुहार का करुण अन्त भी स्मरण करा दिया करता है । मौत का करुण गान एक दिन समस्त जीवन पर छा कर रहेगा शायद । गायक के स्वर विलाप में डूब जाते हैं—

कोई तौ दिन हाँड़ लै गलिएं !
मालिक मेरे ने बाग लुआया
खूब खिलीं कलिएं ! कोई तौ दिन...
मौत-मलिन फिरै बाग मैं
हात लई डलिए ! कोई तौ दिन...
कचे पाकाँ की सैर नै जानी,
तोड़ रई कलिएँ ।

—'जीवन की गलियों में कुछ दिन और बिता ले !
मालिक ने बाग लगाया है, कलियाँ खूब खिली है ।
हाथ में कई एक डलिया लिए मौत मालिन बनी डोलती है ।
वह खिली-अधखिली में भेद नहीं करती,
सब कलियां तोड़ने पर तुली है ।'

पहले एक छबीली घोड़ी को निहारिए, फिर जाट नारी को । आप दोनों में कुछ सादृश्य पायंगे । इसकी पुष्टि भी कर दी है, और जाट नारी का क्रोध शेरनी की याद दिलाता है । वह तेज गहरे रंग पसन्द करती है । यही हाल उसकी भाषा का है । वह इठला कर चलना जानती है । लोकगीत ने उससे बहुत कुछ पाया है । सन् के बीजों से बनाई गई पाजेब और उससे आती हुई झंकार को तो लोकगीत के हृदय में आसन मिल ही चुका है । नारी-हृदय में कितनी प्रेरणा भरी है ! नारी के पुजारी एक कवि की बात हर किसान जानता है । पके शहद का-सा रङ्ग था कवि की प्रियतमा का । सदा वह उसी का गान करता और सदा यही कहता, "यदि अगले जन्म में अपनी जून चुनने को मिलेगी, तो मैं पके शहद के रंग की एक मुग्धा बनना चाहूंगा ।"

हरियाने के एक गीत की धारा चौड़े पाटवाली है । नारी ने इसे प्रेरित किया है, इसमें स्वयं भाग लिया है । जाट कविता की कछार में 'रागनी' एक अलग ही व्यक्तित्व रखता है । जब भी गायक भावना-प्रधान भूमि में पांव रखता है और 'रागनी' छेड़ता है, नारी उसे सुन रही होती है । 'रागनी' के पीछे हमेशा एक करुण स्वर से आच्छादित एक गहरी भावुकता रहती है । 'रागनी' के स्वरों में मानव-प्रेम का छोर सरल, मर्मी भगवत्-प्रेम की ओर झुकने लगता है । ओस की शीतलता और उषा की लाली रागनीकी पृष्ठभूमिको छू-छू जाती है ।

'रागनी' की स्वर-लहरी नाचती हुई चलती है, एक ज्योति लिये हुए । दिल का

बुझता हुआ दीया इसके स्पर्श से झट जल उठता है। पहले पहल किस कंठ ने इसका सरगम रच दिया था ? यह प्रश्न मेरे हृदय में तभी उठ खड़ा हुआ था, जब मै पहली बार इसके संसर्ग में आया। कइयों ने कहा, यह हरियाने की पुरानी विभूति है, इसका उद्गम कौन जान सकता है। कुछ बोले, इसकी जमीन ज़रूर पुरानी है, पर इसके वर्तमान रूप का काफ़ी श्रेय दीपचन्द को मिलना चाहिए। बहुतों ने कहा, पहले-पहल दीपचन्द के कंठ में ही इसका जन्म हुआ था। जैसे मधु चाटते समय हमें मधुमक्खी और फूल की याद आ जाती है, रागनी सुनते समय दीपचन्द को स्मरण कर लेना चाहिए।

दीपचन्द का घर रोहतक जिले के अन्तर्गत सेरीखण्ड गाँव में था। उसने कवि का हृदय पाया था। वह गायक भी अच्छा था, और अपनी पारिवारिक ब्राह्मणवृत्ति की ओर न झुककर उसने जनताका गायक बनना ही पसन्द किया था। जब यूरोपका युद्ध शुरू हुआ,दीपचन्द हरियाने का प्रमुख गायक था। उसका गीत सदा ठीक जगह पर जाकर बैठता था। और जब वह एक ख़ास शान से सिर उठा कर गान आरम्भ करता था, ऐसा लगता था जैसे किसी शिल्पी ने पीतल के एक बड़े टुकड़े को सुन्दरतापूर्वक छैनी से छीलकर उसके सिर और मुख की रचना की हो। सरकार ने उसे भरती के कार्य में ले लिया, और जाट युवकों को युद्ध में जाने के लिए उसका गान कभी बेअसर न रहा। गायक दीपचन्द को अपनी सेवाओं के पुरस्कार में सरकार से बहुत-सा धन मिला था। हरियाने की जनता का तो कहना है कि हर रङ्गरूट के पीछे तीन रुपये मिले थे और कुल लगभग एक लाख रुपये उसे मिले थे। सरकार ने उसे काफी भूमि दी थी और रायसाहब की उपाधि भी। जब दीपचन्द की मृत्यु हुई, वृद्धावस्था कभी की आ चुकी थी।

दीपचन्द के प्रथमतम भरती-गान को अभी हरियाना भूला नहीं—

भरती हो लैरे थारे बाहर खड़े रंगरूट !
याँ ऐसा रखते मध्यम बाना
मिलता पटिया पुराना ;
वाँ मिलते हैं फुलबूट।
भरती हो लैरे थारे बाहर खड़े रंगरूट!

—'अजी ओ आओ, फौज में भरती हो जाओ।
तुम्हारे द्वार पर रंगरूट खड़े हैं, देखो तो।
यहाँ कुछ ऐसा ही मैला वेश रहता है,
पहनने को फटे-पुराने वस्त्र ही तो मिलते हैं न।
पर वहाँ (नवीन वस्त्रों के साथ ही) फुलबूट मिलते है।'

गीत को आगे भी बढ़ाया गया था। 'फुलबूट' के साथ बिस्कुट का तुकान्त मिलाकर एक और प्रलोभन यह पेश किया गया था कि यहाँ ग्राम्य जीवन में चने चबाने को मिलते हैं और वहां फौजी जीवन में सिपाही बिस्कुट का आनन्द लेता है। अंग्रेज़ी शब्द 'रिक्रूट'

का देशी रूप रङ्गरूट हरियाने की भाषा का अपना शब्द बन गया था। गीत में किसी विशेष युवक को सम्बोधन नहीं किया गया था। पर जिसने भी इसे सुना, वही समझा कि उसे ही बुलाया जा रहा है, और झट उसने अपने को रङ्गरूट मण्डली में शामिल पाया।

एक दूसरे भरती-गान में जाट कुलवधू ने अपने युवक पति को सम्बोधन किया था—

पिया, भरती मैं हो लै ने,
पट जा छत्तरीपन का तोल!
जरमन मैं जाकर लड़िए,
अपने माँ-बाप का नां करिए।
ओ तोपों के आगें उड़िए,
अपनी छाती मैं दे खोल।
पिया, भरती मैं हो लै ने,
पट जा छत्तरीपन का तोल!

—'फौज में भरती हो जाओ, प्रियतम!
मुझे तुम्हारे क्षत्रीपन का तोल मिलना चाहिए।
जाओ जर्मनों से लड़ो।
अपने पूर्वजों का नाम उज्वल करो।
जाओ तोपों के सन्मुख जाकर अड़ जाओ।
अपनी छाती खुली कर लेना!
फौज में भरती हो जाओ, प्रियतम!'

बहुत भरती हुई। युद्ध शुरू हो ही चुका था। कई वर्ष तक जाट सिपाहियों की पलटनें जुटी रहीं। कितने ही जाट युवक वीरतापूर्वक लड़े। बहुत से मृत्यु का शिकार भी हुए। छे नम्बर की पलटन के बहुत से जाट सिपाही फिर युद्धभूमि से वापिस न लौटे; सैकड़ों जाट स्त्रियां विधवा बन गईं। दीपचन्द ने अपने एक गान में इस ओर संकेत किया था—

जरमन नै गोला मारिया,
जा फूट्या, था अम्बर मैं।
गारद सें सिपाही भाजै
रोटी छोड़ गये लंगर मैं।
अरे उन तिरिऊन का जीवै,
जिनके बालम छे नम्बर में।

—'जर्मन ने गोला मारा,
आकाश में जाकर यह गोला फटा।
लंगर में रोटी खाते सिपाही रोटी छोड़कर भागे।

अरे इन स्त्रियों में से किन-किन के पति जीते बचेंगे।
जिनके पति छे नम्बर की पलटन के सिपाही हैं।'
और फिर विधवा स्त्रियोंने स्वयंजिस गानकी रचनाकी, यह एक अभिशाप ही तो था—

जरमन तेरा जाइयो राज,
आज ना तड़कै!
तन्ने मारे बिराने लाल
जहाज भर-भर के!
मैं किसपर करूँ सिंगार,
कालजा धड़के!

—'अरे जर्मन, तेरा राज चला जाय,
आज या कल सुबह।
अरे तूने बेगाने लाल मार डाले
वे हमारे पति जो जहाज़ों में भर-भर कर फौज में ले जाये गये थे।
हाय! मै शृंगार करूं तो कैसे?
मेरा हृदय धड़क रहा है!'

दीपचन्द की कितनी ही रचनाएं लोकगीत मे समा गई हैं। गरती गायक उन्हें बड़े चाव से गाता है। रोहतक के समीप एक गांव में मैंने एक सिपाही और उसकी पत्नी का गान सुना था। पत्नी ने भरती होने के लिए जा रहे पति को सम्बोधन किया था—

मैं हूर परी बाँगर की, मन्ने फली खा लई सांगर की!
मेरी के बूझै भरतार!
म्हने छोड़ न जइए, अपना कपटी दिल समझइए
ओ भर, बुरा बनियों से पियार।

—'मैं बाँगर की हूर हूँ, एकदम परी सरीखी!
सांगर की फलियां खाकर मैं पली हूँ।
प्रियतम, आखिर मुझे क्या समझते हो तुम?
मुझे छोड़कर न जाओ, इस कपटी दिलको समझा लो।
तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम वेग में आ रहा है।'

पति न माना, वह भरती जा हुआ। पत्नी ने मर्द का वेष धारण किया। उसी पलटन में वह भी भरती जा हुई। अब पति उसे चुपके से घर चले जाने के लिए समझाता था—

मोरे क्यों गेरेसे भूल,
रुप खिल दिया सरसों का फूल

क्यों बोलेसे बात दरद की।
मेरे चुभसे एणी रे करद की,
मालुम पट जा वीर मरद की,
पा पीटें हवालात में।

—'भूल क्यों कर रही हो ?
तेरा रूप सरसों के फूल के समान खिल रहा है।
दर्द की बात क्यों बोलती है तू ?
यदि तुझ वीर मर्द का भेद खुल गया,
हवालात में बन्द कर देंगे तुम्हें, कितना पीटेंगे वे !'

कथानकके अनुसार पत्नी ने जब यह वादा ले लिया कि पति भी बादमें नाम कटाकर घर लौट आयगा, वह वापस चली गई। गश्ती गायक के कंठ में कितनी मृदुलता भरी रहती है। और मैंने देखा कि इस गायकमें संगीत के प्रति एक विशेष रुचि थी, जो कितने ही गायकों में कामचलाऊ प्रवत्ति तक आकर ही ठहर जाती है। तभी इस गायक की आँखें, जो साधारणतया रूखी-सी थीं, ग्रामकी इस महफिल की पूर्णाहूति के समय चमकने लगी थीं।

फौज से पेन्शन पाने के बाद जाट सिपाही प्रायः अपने ग्राममें लौट आता है। उसकी रूचि किसी कदर बदल चुकी होती है। कई नये शब्द भी वह अपने साथ लाता है। शायद अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति उसकी आस्था भी हिल चुकी होती है। वह शायद स्वयं लोकगीतको अपने कंठमें स्थान नहीं देता; पर जब ग्रामकी आत्मा लोकगीतसे स्पन्दित होती है, इसके स्वर स्वयं पेन्शनयाफ्ता सिपाही को फिर से अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

हरियाने का लोकगीत एक ज़िन्दा विभूति है। इस की ज़मीन ज़रखेज़ है। उसे अपना पुराना वैभव याद है, नई कमाई करने की सोच भी है। जाट की कल्पना में, उसकी भावनाओं में, उसके अट्टहास में, उसकी तटस्थता में, उसके सुख-दुःख की सामग्री में अब भी सृजन शक्ति है। आज का जाट लोकगीत एक स्पष्ट रेखाचित्र बन जाना चाहता है। पर नूतनता का प्रलोभन जब गायक को अपनी जड़ें अपनी धरती में खूब गहरी ले जाने से विमुख कर देता है, लोकगीत का भविष्य खतरे में पड़ जाता है। और एक बात और भी तो है, आज का गायक जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह ठेठ लोक भाषा से परे हो चली है।

इधर बूढ़े बैल का गीत लोकप्रिय होने जा रहा है। बूढ़ा बैल रोकर कह रहा है—

अरे निरँ रौवै बूढ़ बैल,
म्हने मत बेचै रै पापी।
तेरे कुल कोल्हू में चाल्या

नाज कमा कै तेरे घरां घाल्या
इब तन्ने कर ली है बज्जर की छाती।
तेरा बज्जड़ खेत मन्ने तोड्या,
गडीते न मुँह मोड्या,
इब मेरी बेचै से मांटी।
मेरी रे क्यों बेचै से माटी ?
अरे निऊँ रौवै बूढ़ बैल।

—'अरे पापी, मुझे बेच मत।
मैं तेरे हल में जुतता आया हूँ और कोल्हू में भी।
कितना अनाज कमाकर
मैंने तेरे घर में डाल दिया है।
अब तूने अपना हृदय पाषाण का बना लिया है।
मैंने तेरा किसी कदर बंजर खेत भी उपजाऊ बना डाला,
छकड़े मे जुतने से भी मैंने कभी मुंह न मोड़ा
और अब तू मेरी मिट्टी—मेरी यह वृद्ध देह—बेचने जा रहा है ?
अजी ओ किसान, मुझे क्यों बेच रहे हो ?'

यह गीत अभी विकास के पथ पर है। इसी भाव का इससे बहुत कुछ मिलता जुलता गीत पंजाबी में भी बना है। शायद आगे चलकर बैल का गीत एक आदर्श गीत बन जाय। इसी सिलसिले में एक गाय का गीत भी बन गया है—

निऊं कह रही धौली गाय, मेरी कोई सुनता नईं।
मेरे कित गये सिरी भगवान, मैं दुख पाय रईं।
मेरा दूध पीवे संसार, घी से खांय खिचड़ी,
मेरे पूत कमावें नाज मैंघे भा की रूई।
मेरी दहीए सुखी संसार, जब भी मेरे गल पै छुरी !

—'धौली गाय कह रही है, मेरी कोई नहीं सुनता।
कहां गया वह मेरा गोपाल—मेरा भगवान ? मैं दुःख पा रही हूँ।
संसार मेरा दूध पीता है, घी से खिचड़ी खाता है।
मेरे पुत्र अनाज कमाते हैं, महँगे भाव की रुई भी,
मेरे दूध का बना दही खा कर संसार सुखी हो रहा है,
तो भी मेरे गले पर छुरी चलती है।'

शायद इस गीत की रचना में किसी गोशाला के गवैये का हाथ हो। अभी यह कुठाली में ही गल रहा है, आगे चलकर इसका रूप स्थिर होगा। भाषा भी बहुत-कुछ हिन्दी के पीछे चली।

एक नवीन गान में किसान स्त्री ने अपने पति को कपास बोने से रोका है—

मेरा कैहा मान पिया, बाड़ी मत बोइए ;
सर पड़ेगी उघाई तेरे डंडा बाजै जाई,
पिया, बाड़ी मत बोइए ।

—'प्रियतम मेरी बात मान लो, कपास मत बोओ ।
आबियाना सर चढ़ जायगा, डंडे अलग खाओगे ।
प्रियतम, कपास मत बोओ ।'

ग़रीबी का गान तो है ही बिलकुल नवीन रङ्ग लिये हुए—

अरै यै बुरी कंगाली धन बिन कीसी रै मरोड़ ?
भोगा, बुरी रै कंगाली, धन बिन कीसी रै मरोड़ !
धनवन्त घरां आणके कह जा
निरधन ऊँची नीची सब सह जा
सरपर बंधा बंधाया रह जा
माथेपर का रै मोड़ ।
अरे यै बुरी कंगाली, धन बिन कीसी रै मरोड़ !
निरधन सारी उमर दुःख पावे
भूखा नंगा रहके हल बाहवे
भोगा, बिना घी का चूरमा
तेरी रहला कमर तैं रै तोड़ ।
अरै यै बुरी कंगाली, धन बिन कीसी रै मरोड़ !

—'बुरी है यह गरीबी, धन बिना कैसा नखरा ?
धनी गरीब के घर आकर जो चाहे कह जाय ।
ग़रीब उसकी ऊँची-नीची बात सह जाता है ।
धन बिना सर पर बँधा सेहरा भी व्यर्थ चला जाता है ।
ग़रीब उमर भर दुख पाता है ।
भूखा नंगा रह कर हल जोतता है ।
अरे ओ भोगा, यह बिना घी की चूरी
जो कपड़े में बाँधकर तूने पीछे लटका रखी है,
व्यर्थ तेरी कमर का भार ही तो है ना ।'

वर्तमान जाट-गीत किसी दीपचन्द की प्रतीक्षा में है ।

हरियाना जनपद के लोकगीतों ने जाट-जीवन के अनुरूप ही ख़ूब गरमी-सरदी झेली है। वे सदैव प्रगति-पथ पर अग्रसर रहे हैं । परम्परा का बन्धन तो है ही,पर जीवन का मुक्त वातावरण भी तो है ।

गुजराती लोकगीत

: १ :

गुजराती लोकगीत के अध्ययन में पथप्रदर्शक का कार्य स्व० रणजीतराय मेहता ने किया था। आगे चलकर श्री जवेरचन्द्र मेघाणीने इस क्षेत्रमें अभिनन्दनीय परिश्रम किया। "चुन्दड़ी" और 'रढियाली रात" में मेघाणी जी ने जिस लोकगीत से साहित्य जगत का परिचय कराया है वह क्या कम सजीव है? काठियावाड़ में, जहां मेघाणी जी का जन्म हुआ, लोकगीत की असीम सामग्री फैली पड़ी है; इसे मेघाणीजी ने अपने सँग्रह में प्रमुख स्थान दिया। कुछ समय से मेघाणी जी ज़रा उदासीन हो रहे हैं। इधर श्री गोकुलदास रायपुरा ने इस दिशा में उत्साह पाया है।

"कला—एक जीवन" के उपसंहार में श्री काका कालेलकर ने लिखा है—"इस विस्तार के साथ किये हुए विवेचन को एक तरफ रख कर, अगर मैने गुजरात की भूमि और उसके तालाबों का, उसकी नदियों और घाटों का, और उनपर बंधे हुए पुलों का, तालाब के किनारे के वृक्षों और उनकी छाया में बैठकर पागुर करते हुए पशुओं के झुंडों का, खादीधारी बगुलों और पूंछ फैलाकर नाचते हुए मोरों का, इसके समुद्र के कई तरह के किनारों और उन में बसे हुए टापुओं का, मान्य मेहमानों की तरह सोहती हुई पहाड़ियों और कगारों पर से कूदने वाले जल-प्रपातों का, खाइयों और गुफाओं का—

इन सबका वर्णन होता, तो ज़्यादा अच्छा होता।...गुजरात की जनता, उसका स्वभाव, उसका पहनावा, और उसके रीति-रिवाज, उसके उत्सव और यात्राएँ, लोक-कथायें और लोकगीत, धार्मिक सम्प्रदायों और जाति-बिरादरियों के आदर्श, उसकी तपो-भूमियां और उसके जहाज़ी व्यापार—इन सबका मर्म समझ कर, इनके अन्दर समाए हुए कला-बीज का वर्णन किया होता, तो गुजरात के लिए यह उपयोगी साबित होता। मगर इस प्रान्त में २० वर्ष तक रहने पर भी, मैं सब जगह घूम नहीं सका और इस सब रूप में दिखने वाली कला का रहस्य प्रकट करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मुझे तो इतना विश्वास रखकर ही सन्तोष मान लेना है कि इस काम को भविष्य का कोई कलात्मा जरूर पूरा करेगा। जब यह काम होगा, तब गुजरात की अपनी कला का नया अवतार होगा।"लोक-जीवन में फिर से प्राण डालने की आवश्यकता बतलाते हुए श्री काका कालेलकर ने फिर लिखा है—"गुजरात लोक-सङ्गीत दूसरे प्रान्तों के लोक-सङ्गीत से जुदा है। उसमें असाधारण भाव-व्यञ्जकता है। जिस वक्त कवि मेघाणी-जैसे अपने मेघगम्भीर कण्ठ से इन गीतों को गाते हैं, तब इस बात का सहज ही ख्याल आजाता है कि हमारा पुराना लोक-जीवन कितना प्रबल और पौरुषपूर्ण रहा होगा। लोक-काव्य, लोक-कथा और लोक-सङ्गीत द्वारा गुजरात के लोक-जीवन को फिर से सजीव बनाने की आवश्यकता है। सभ्य जीवन और लोक-जीवन एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे के पोषक हैं। शिष्ट-जीवन सदा प्रतिष्ठित होता है। लोक-जीवन को अब प्रतिष्ठित बनाना आवश्यक है। शर्त यही है कि उसे उतनी ही प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, जिससे कि उसकी स्वाभाविकता और लौकिकता नष्ट न हो।"

: २ :

गुजराती लोकगीत का अध्ययन करते समय बार-बार मुझे ऐसा लगा है, जैसे वह एकदम परिचित वस्तु है,जैसे उसका गान पहले कई बार सुना हो। पञ्जाबी लोकगीतसे इसका नज़दीकी रिश्ता जान पड़ता है; राजस्थानी गीत ने गुजरात और पञ्जाब की लोक-कविता के बीच एक पुल तैयार कर दिया है। राजस्थानी और गुजराती तो स्थान-स्थान पर गले मिलते हैं—भाषा की दृष्टि से भी, और गीत-सामग्री की दृष्टि से भी। पञ्जाबी गीत दूर से गुजराती गीत की ओर निहारता है—एक चिर-सखा की भांति। एक गुजराती गीत में एक ग्राम्य महिला अपने देवर की लाई हुई मेंहदी से हाथ रंगने से इन्कार कर देती है। उसका पति घर पर नहीं है। वह देवर से अपने पति को पत्र लिखवाती है। पत्र में पहला बहाना यह लिखवाती है कि घर पर उसकी ननद का विवाह होने जा रहा है। पति उत्तर में लिखता है कि बहन को मुंहमांगा दहेज देकर विदा करना। दूसरा बहाना स्वयं देवर के विवाह के रूप में लिखकर भेजा जाता है। पति लिखता है कि खासी बारात लेकर ब्याहने जाना। फिर सास की मृत्यु की झूठी खबर भिजवाई जाती है। पति फिर भी नहीं आता और उत्तर में लिखता है कि अच्छा ही हुआ, पर उसे बेरी की लकड़ी से जलाना। अन्त में वह महिला अपनी आंख दुखने की खबर भिजवाती है। इस पर पति महोदय, जो सेनापति के

पद पर नियुक्त हैं,सिपाहियों को खेमा उठाकर देश की ओर लौटने का हुक्म देते हैं। हू-ब-हू यही कथानक मेंहदी-सम्बन्धी भूमिका को छोड़कर एक पञ्जाबी गीत में मौजूद है,ब्रज-मण्डल तथा बुन्देलखण्ड से भी मैंने वहां की भाषाओं में इस भाव के एकदम मिलते-जुलते गीत ढूंढ लिये हैं—इनमें कथानक को लम्बा किया गया है, और हम सेना से लौटे हुए पति को पत्नी को सजा देने की बात सोचते पाते हैं; पत्नी का कसूर प्रत्यक्ष है, उसने झूठा बहाना करके पति को सेना से बुला लिया। "कुअडली रे" शीर्षक गुजराती गीत एक राजस्थानी गीत का, जो "संदेसा" कहलाता है, सहोदर है; 'कुअडली रे सन्देसो अमारो जाई बालम ने केजो जी रे" गुजराती गीत की यह पंक्ति "उड़ती कुंजड़ियां संदेसो म्हारो पिवने दे जो रे"के रूप में राजस्थानी गीत में विद्यमान है; गुजरात और राजस्थान की स्त्री ने समान रूप से कुञ्ज (क्रौंच) पक्षी से प्रार्थना की है कि वह उसका सन्देश उसके पति तक ले जाय, कुञ्ज का उत्तर भी बड़ा भावपूर्ण है—'मैं तो पक्षी हूँ, मनुष्य होता, तो मुख से बोलकर संदेश कहता, हां, मेरे पङ्खों पर भले ही यह संदेश लिख दो।' राजस्थान की "जसमा ओडणी" और गुजरात की "रङ्ग भीलड़ी" का कथानक भी एक ही है।

राजस्थान में से होता हुआ एक दिन गुजराती लोकगीत वृन्दावन की बावली के समीप चला आया था; बावली से कोरी गगरी में जल भरती युवती को कवि ने स्वयं देखा था; या शायद यह वर्णन गुजराती लोकगीत की रूढ़ि-मात्र हो। पर यह युवती पनिहारी न राधा है, न कोई अन्य गोपी, वह तो सीता है। जीवन के अचेतन स्तरों से एक आवाज़ उठ खड़ी हुई थी, जो बाद में गीत बन गई—

राम लखमण बे बन्धवा, रामैया राम,
बे भाई चाल्या शिकार रे, रामैया राम।
राम ने तरस्युं लागीयुं, रामैया राम,
'लखमण वीर पानीड़ां पाव रे!' रामैया राम।
झाड़े चढ़ी जलजोई बल्या, रामैया राम,
क्यांय न दीठुं अमृत नीर रे, रामैया राम।
खेतर बच्चे खरखरड़ी, रामैया राम,
छेटेथी तवक्यां छे नीर रे, रामैया राम।
बनरा ते वन मां वाबडली, रामैया राम,
पाणी भरे बाल कुंवार रे, रामैया राम।
कोरी गागर जले भरी, रामैया राम,
सीता नार्‌य पाणीड़ानी हार्‌य रे, रामैया राम।
भरियो घड़ो राम पीवल्या, रामैया राम,
पाणी पीने पूछ्यां घरबार रे, रामैया राम।
कोण ज केरी बेटड़ी, रामैया राम,

'परणी छो के बाल कुंवार रे ?' रामैया राम ।
'जनरख के री बेटड़ी, रामैया राम,
नथी परण्यां नथी पहर्‌यां', रामैया राम ।
वन नी "चोरी" चीतरी, रामैया राम,
धरती ना कीधा बाजोरु रे, रामैया राम ।
आभ नो नाख्यो मांडवो, रामैया राम,
बीजली नी कोधी वरमाल रे, रामैया राम ।
नव लख तारा जोईरिया,
परणे सीता ने श्रीराम रे, रामैया राम ।
'परथम जोजन मागी ल्यो', रामैया राम,
माग्यां छे कांई धरती ने आभ रे, रामैया राम ।
धरती मां धन नीपजे, रामैया राम,
आभ मां थी बरसै छे मेघ रे रामैया राम ।
'बीजुं जोजन मागी ल्यो',रामैया राम,
माग्यां छे कांई मा ने वली बाप रे, रामैया राम ।
बापे लाड लडावीयां, रामैया राम,
माता नां धावेल अमरत थान रे, रामैया राम ।
'त्रीजुं जोजन मागी ल्यो', रामैया राम,
माग्यां छे कांई भाईने भौजाई रे, रामैया राम ।
'चोथुं जोजन मागी ल्यो', रामैया राम,
माग्यां छे कोई घोड़ी ने वली गाय रे,रामैया राम ।
गाय नो जायो हल खेड़े, रामैया राम,
घोड़ी जायो जूझे रणला मोज रे, रामैया राम ।

—'राम और लक्ष्मण दो भाई हैं, दोनों शिकार खेलने चले हैं;
राम को प्यास लग आई, 'भ्राता लक्ष्मण ! पानी पिलाओ ।'—वे बोले ।
वृक्ष पर चढ़कर लक्ष्मण ने निगाह दौड़ाई,
कहीं भी उसे 'अमृत नीर' नज़र न आया ।
खेत के बीच एक धारा बह रही है,
दूर से जल चमक रहा है ।
वृन्दावन में एक बावली है,
उसपर एक बाल कुंवरी पानी भर रही है ।
अपनी कोरी गागर उसने जल से भर ली है,
पनिहारियों के समेत सीता जल भरने आई है ।

घड़े का समस्त जल राम पी गए,
जल पीकर उन्होंने पनिहारी का घर-बार पूछा—
"तुम किसकी पुत्री हो ?
विवाह हो गया या अभी कुंआरी ही हो ?"
"मैं जनक की पुत्री हूं, न विवाहिता हूँ, न पति द्वारा परित्यक्ता;
मैं बाल कुंवरी हूं।"
समस्त बन को हवन-कुण्ड के रूप में चित्रित कर लिया गया,
धरती की 'बाजोठ' (वर की चौकी) बना ली गई,
आकाश मानो मण्डप गाड़ लिया गया,
दामिनी की वरमाला बना ली गई,
नौ लाख तारे निहार रहे हैं—
श्री राम सीता को ब्याह रहे हैं।
"प्रथम वरदान मांग लो"—राम ने कहा;
सीता ने धरती और आकाश मांग लिए, (और बोली)—
"धरती में अन्न उपजता है,
आकाश से बादल बरसते हैं।"
"दूसरा वरदान मांग लो"—राम ने कहा;
सीता ने माता मांग ली, साथ ही पिता मांग लिया, (और बोली)—
"पिता ने मुझे लाड़ लड़ाया है,
माता की छाती का मैंने अमृत पिया है।"
"तीसरा वरदान मांग लो" राम ने कहा;
सीता ने भाई और भावज मांग लिए।
"चोथा वरदान मांग लो"—राम ने कहा,
सीता ने घोड़ी मांग ली, साथ ही गाय मांग ली, (और बोली)—
'गाय का पुत्र हल चलाता है,
और घोड़ी का पुत्र रणभूमि में जूझ जाता है।'

मेघाणी जी ने इस गीत का शीर्षक "राम सीता नो विवाह"—राम सीता का विवाह—रखा है। युग-युगान्तर से राम और सीता के नाम भारतीय लोकगीत में अभिनन्दित होते आ रहे हैं; प्रान्त-प्रान्त में इस श्रेणीके गीत मौजूद हैं। राम और सीता के नाम पहले-पहल कब रूढ़ि के रूप में परिणत होने लगे थे, यह बताना सहज नहीं। विवाह गान मे वर योही राम बन गया है, वधू को सीता की पदवी मिल गई है। और विवाह-गान में ही राम और सीता को स्थान मिला हो, यह बात नहीं। लोकगीत के विभिन्न विभागो में ये नाम बार-बार आये हैं।

एक गीत में हम राम को 'राय करमलड़ी' की शाखा झुकाते देखते हैं। सीता फूल चुनती है और टोकरी में भरती जाती है। फिर मालिन वहां आकर एक हार गूंथती है। सीता इस हार को लेकर अपने माथे पर लगाती है। बचे हुए फूलों को लेकर मालिन एक दूसरा हार तैयार करती है। इससे राम अपने सिर का शृङ्गार करते हैं। राम का यह रूप शायद सीता के मन में बस जाता है; वह यह हठ करती है कि उसका विवाह राम से हो जाय, वरना वह उमर भर कुंवारी रह कर तपस्या का जीवन बितायगी। रामायण के राम धनुष-बाण तोड़कर—सीता-स्वयंबर की शर्त पूरी करने पर—सीता को पाते हैं; लोकगीत के राम पर स्वयं सीता रीझ जाती है, 'राय करमलड़ी' के फूल राम के सौंदर्य को कितना आकर्षित बना देते हैं!

शिव और पार्वती ने भी लोकगीत की दुनिया में बार-बार अवतार लिया है। मूल पौराणिक कथानक से थोड़ी दूरी पर—लोक-जीवन में अलग ही चित्र अङ्कित किये गए हैं। लोकगीत की प्रथा में इन चित्रों ने मौलिक विकास पाया है; इनकी रेखाओं को प्राचीनता का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। एक गीत बहुत लोकप्रिय हुआ है। शिव के लिए मूल गीत में "ईश्वर" शब्द आया है—

दुधे ते भरी रे तलावड़ी,
मोतीड़े बांधी पाल;
ईस्वर धोवे धोतिया,
पार्वती पाणी नी हार।
'हलवा ते धोजो, ईस्वर, धोतिया,
छंटाशे मारां चीर,
अम घर दादोजी रीसालुवा,
माता मारी देशे गालू।'
'नहिं तेरो दादोजी रीसालुवा,
नहिं दे रे माता तारी गालू,
आपन वेय मड़ी परणशुं,
बैसाख महिना माह।'

—'दूधसे भरा हुआ तालाब है,
उसकी मेंड मोतियों से बांधी गई है;
शिव धोती धो रहे हैं,
पार्वती पानी भरने आई हैं।
'अजी ओ शिव, धीरे-धीरे अपनी धोती धोओ,
मेरी चुनरी पर छींटे पड़ रहे हैं,
घर में मेरे दादाजी बड़े क्रोधी हैं,

मां अलग गाली देगी मुझे।'

'न तेरे दादाजी क्रोधी हैं,

न तेरी मां तुझे गाली देगी।

हम दोनों मिलकर विवाह कर लेंगे,

बैसाख मास (आ जाय ज़रा)।'

बैसाख मास विवाह-सूत्रमें बंधने के लिए शुभ माना जाता है। लोकगीत की भी अपनी एक निष्ठा है। पार्वती गुजरातकी ग्राम्य कन्या बन गई है, शिव उससे विवाह कर लेंगे। यह सूचना स्वयं शिवके मुंहसे सुनकर, और वह भी उसकी चुनरी पर शिवकी धोतीके छींटे पड़ जाने के पश्चात्, न जाने उसके मन में क्या भाव उठ खड़े हुए होंगे! शायद लजाकर उसने आंखें झुका ली हों। तभी गीत आगे नहीं बढ़ा।

गुजराती लोकगीतमें केवड़ा पुष्पको प्रचुर स्थान मिला है। कुएं के समीप न जाने यह कबसे खिलता आया है? वियोगिन पनिहारी का केवड़ा जल न पाकर मुरझाने लगता है। कहीं-कहीं नायिका कह उठी है—

"मारी नवरङ्गी बाड़ी मां
केवड़ो महकियो रे लोल!
ठाकुर केवड़ो लेता जायो
के आगल् नहिं मले रे लोल!

—'मेरी नवरङ्ग फुलवाड़ी में केवड़ा महक रहा है,
अजी ओ ठाकुर, यह केवड़ा पुष्प लेते जाओ ज़रा,
आगे कहीं यह न मिलेगा तुम्हें।'

एक दूसरे गीतमें सीता राम से एक सफेद फूल मांगती हैं। शायद सीता की दृष्टि में भी केवड़े का सौन्दर्य समा गया है।

चम्पा पुष्प भी पीछे नहीं रहा। इसे मां ने अपनाया है। कन्याकी तुलना मां ने प्रायः चम्पा से की है। एक विवाह-गान में मां ने अपना करुण हृदय दिखाया है—

में तो हरखे चांपलीयो रोपावीयो रे!
मारो उछेरतां भव जाय,
फुलड़ा वेलाये माली लई गया रे!
में तो हरखे ने लाडवई मोटां कर्यां रे!
मारो उछेरतां भव जाय,
काम नी वेलाये जमाई लई गया रे!

—'खुशी से मैंने चम्पा रोपाया था।
उसे पालते-पोसते कितना समय बीत गया,
पुष्प निकलने का समय आया तो माली उसे उठा ले गया,

खुशी से मैंने लाड़ली कन्या हृष्टपुष्ट की
उसे पालते-पोसते कितना समय बीत गया
जब वह कार्य करने लायक हुई तो जमाई उसे ले गया।'

: ३ :

पारिवारिक जीवन का समस्त दुःख-सुख लोकगीत की वस्तु बन गया है। आनन्द की घड़ियों में गरीब पनिहारिन भी सोने की हँड़री का गान करती है; अपने मिट्टी के घड़े को भी चांदी का घड़ा बताने में सङ्कोच नहीं करती। यहां यह बात जरूर समझ लेनी चाहिए कि आनन्द के इस गान में रूढ़ि का रङ्ग अवश्य आ गया है। एक स्थान पर हम देखते हैं कि बेचारी पनिहारिन का घड़ा गिरकर टूट गया है,इस कसूर में बेचारी कोघर पर बहुत बुरी तरह पीटा जाता है। बांझ स्त्री की करुण-कथा भी लोकगीत में समा गई है। जोगी का भेस बनाकर रावण सीता को चुराने आता है। एक अजब बात यह हुई है कि किसी लोक-काव्यगत रूढि का आश्रय लेकर सीताकी झोंपड़ी वृन्दावनमें दिखाई गई है—पञ्चवटी को लोक-कवि न जाने वृन्दावनमें कैसे ले आया ? इस झोंपड़ के पिछवाड़ेमें केवड़ा महक रहा है। रावण कहता है—'सीता, तुम राम को भूल जाओ, मैं तुम्हारे लिए चूड़ा गढ़वा दूंगा।' सीता कहती है—'तेरे चूड़े को मैं पत्थर पर दे पटकूंगी, अरे राम तो मेरे जन्म-जन्म के पति हैं।' गुजरात की ग्राम्य महिला, अन्य प्रान्तीय स्त्रियों की भांति ही, चूड़ा पहनकर एक बहुत बड़ा सुख मानती है, इसी स्थानिक रङ्ग ने इस गीतके पृष्ठपटको सजीव बनाया है। युद्धके पश्चात् प्राप्तकी हुई सीता को रामने क्यों देश-निकाला दे दिया,इसका कारण गुजराती लोकगीतमें अलगसे दिया गया है। अन्य स्त्रियों के कहने पर एक दिन सीताने रावण का चित्र अङ्कित कर दिया था। रामने इसे देख लिया। इसी पर वे बिगड़ गए, कहने लगे—मेरे शत्रु की तसवीर बनाकर किसने इतना बड़ा अपराध किया है? और जब उन्हें पता चला कि वह सीताकी कृति है,तो वे भैया लक्ष्मण से कहते हैं कि वह सीता को बन में छोड़ आए। लक्ष्मण सीता को रथपर बिठाकर ले चलता है। पहली गली में प्रवेश करने पर ही एक अमङ्गल यह होता है कि सामने से काला नाग राह काट जाता है। दूसरी गलीमे काला काग कांय-कांय कर उठता है—सीता का हृदय फिर अमङ्गल से भयभीत हो जाता है। वापस आकर लक्ष्मण राम से कहता है—"जल बिना जैसे मीन तड़पती है, ऐसी सीता को छोड़कर आया हूं मैं।" एक गीतमें एक स्त्रीका हृदय केवल इसीलिए उदास हो उठा है कि उसको चुनरी में काली धारी है। बारी-बारी से उसे परिवारके प्रमुख व्यक्ति मनाते दीखते हैं,अन्त में पति के मनाने पर वह झटसे इस चुनरीको पहनने पर राज़ी हो जाती है। नौलड़ा हार टूटने पर पनिहारिन का गीत कितना करुण हो उठता है! सास की तुलना कहीं-कहीं सागर की लहर से की गई है। जेठानी यों चमकती है, जैसे वह बादल की दामिनी हो।

लोकगीत जीवन के साथ-साथ चला है। प्रथा और रूढ़ि ने इसे चिरञ्जीवी बनाया है। स्त्री ने पुरुष से कितना अधिक गाया है! गुजराती लोक-गीतने गुजरात की स्त्री से कितनी

सजीवता पाई है ! पुरुष अधिक नहीं बोला, मूक बना वह बहुत कुछ सुनता रहा है, स्त्री की सृजन-शक्ति के सम्मुख जैसे वह नतमस्तक हो गया हो। मां बनकर स्त्री ने शिशु के साथ ही सरस लोरियों की सृष्टि भी की; शिशु को सम्बोधन करके उसने एक दिन पहले-पहल गाया था—'तू देवताओं की ओर से आया हुआ उपहार है।' विवाह-गानमें, 'गरबा' नृत्यके गीतों में और विभिन्न उत्सवों के अन्य गीत-भण्डार मे स्त्री की वाणी सुनने को मिलती है।

ओ गुजरात ! धन्य है तुम्हारी स्त्री, जिसने लोकगीतको अपने शिशुके साथ-साथ दूध पिलाया है, जिसने फिर अपनी ही कृति को स्नेहपूर्वक आशीर्वाद भी दिया है।

बुन्देलखण्ड मूक नहीं

: १ :

कहां से आते हैं इतने गीत लोक-जीवन में ? कुछ पागल काले बादलों से, बस बरसने को तैयार; कुछ इन्द्र-धनुष से, सूर्योदय-से लाल-लाल; या फिर सूर्यास्त की रक्त-रश्मियों से, बढ़ते अंधेरे का अंचल छूते; गाय के दूधिया, मिष्ट श्वास से; उगते गेहूँ से, धान से या फिर किसी भी अनाज से; फसल काटते मस्त कृषक के दिल से; घास छीलती नारी की चुनरी-से अस्तव्यस्त; स्मरण-विस्मरण की आँखमिचौनी-से । जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत । कल्पना भी करती है अपना काम, रस-वृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी। पर ये सब हैं खाद । जीवन के सुख, जीवन के दुःख ये हैं लोकगीत के बीज । लोकगीत हृदय के खेत में उगते हैं । सुख के गीत उमंग के ज़ोर से जन्म लेते हैं । और दुःख के गीत तो खौलते लहू से पनपते हैं और आँसुओं के साथी बनते हैं ।

मैं चिरगांव में हूँ, श्री मैथिलीशरण के यहाँ । सन् १९३१ के अन्तिम दिनों में जब मैं यहाँ आया था, यहीं ठहरा था । तब मैं अकेला था । अब मेरी पत्नी और कन्या भी मेरे साथ हैं । साढ़े पाँच वर्ष बाद भी यह घर ज्वलन्त मानव-प्रेम और आस्थापूर्ण आतिथ्य की वही पुरानी रूप-रेखा लिये हुए है । 'आप मेहमान नहीं हैं, घर के आदमी हैं ।' कविवर

मैथिलीशरण जी कह रहे हैं। एक कविवर ही नहीं, सियारामशरण और उनके सबसे बड़े भैया भी यही बात दोहरा रहे हैं।

श्री कृष्णानन्द गुप्त से भी मैं मिल चुका हूं। पर वह योद्धा-से दिलवाले कवि, वे मुन्शी अजमेरी, कहाँ हैं ? पिछली बार जब वे यहीं, इसी आँगन में, चाँदनी रात में बुन्देलखण्डी लोकगीतों की प्रशंसा कर रहे थे, मेरी कितनी आस बंधी थी ? मुझे अपनी ग़फ़लत पर गुस्सा आ रहा है। मैं जल्द यहाँ क्यों न आया ? वे होते तो मेरी कितनी सहायता करते। आज मैं उनके बड़े पुत्रसे मिलने गया था। सियारामशरण जी मेरे साथ थे। मुझे उनके घरमें बैठे रोना भी लो न आया। जैसे मैं भीतर ही आंसू पीकर रह गया। यदि वे आज मौजूद होते, तो मैं ईसा से एक शताब्दी पूर्व की एक चीनी कविता के शब्दों में, आरम्भ में 'शंगया' के स्थान पर अजमेरी जी का नाम लेकर, झट कह उठता—'अजमेरी जी, मैं तुम्हारा मित्र बनना चाहता हूँ, हमेशा-हमेशा के लिए, निस्संकोच और निरन्तर। जब सब पहाड़ियाँ मैदानों में परिणत हो जायँगी और सब दरिया सूख कर रह जायँगे, जब जाड़े में बादल चमकना और गरजना शुरू करेंगे और गर्मियों में बर्फ गिरा करेगी और जब आकाश और धरती मिल जायँगे, उस घड़ी से पहले मैं जुदा नहीं होने का।'

मुन्शी जी जितना लिख सकते थे, उतना उन्होंने लिखा नहीं। बाते करने के वे पूरे रसिया थे। बेतवा की तरह उनका दिल बह पड़ता था—वही बेतवा-सी लहरें, वही बेतवा-सा प्राकृतिक सौंदर्य उनकी वाणी में मौजूद था। यह सब जानकर भी वे जैसे अपने प्रति बेखबर-से रहने में ही सुख पाते थे। गुप्त-बन्धुओं को फलते-फूलते देखकर उनसे दिन-दिन भर काव्य-चर्चा करने में ही जैसे उन्होंने अपने रचनात्मक सुख की इतिश्री समझी थी। कभी कुछ लिख लिया और बस।। जी भर गाया किये, कोई सुनने वाला चाहिए। चारण-इतिहास के अन्तिम पन्ने की भांति वह आज कहाँ छुप गए !

अजमेरी जी का एक प्रिय लोकगीत आज मुझे कितना सजीव जान पड़ता है। पास के 'छिरौना' ग्राम में श्री कृष्णानन्द गुप्त के साथ जब मैंने इसे सुना, तो जैसे अजमेरी जी ही मिल गए—

गाड़ी वारे मसक दै बैल
अबै पुरबइया के बादर ऊन आए
कौना बदरिया ऊनई, रसिया
कौना बरस गये मेय
अबै पुरबइया के बादर ऊन आए
अग्गम बदरिया ऊनई, रसिया
पच्छम बरस गये मेय
अबै पुरबइया के बादर ऊन आए
घुंघटा बदरिया ऊनई, रसिया

गलुअन बरस गये मेय
अबै पुरबइया के बादर ऊन आए

—'अजी ओ गाड़ीवान, बैलों को हांक दो ज़रा,
पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं रे !
कौनसी बदरिया उमड़ी है, अजी ओ रसिया ?
कौनसा मेघ बरस पड़ा ?
पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं रे !
आगे की बदरिया उमड़ आई है, अजी ओ रसिया !
पीछे का मेघ बरस पड़ा ।
पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं रे !
घूँघट बदरिया उमड़ आई है, अजी ओ रसिया !
गालों पर मेघ बरस पड़ा ।
पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं रे !'

अनुवाद में मूल गीत की सुन्दरता पैदा नहीं की जा सकती। एक तो यों ही संगीत से पृथक् हुए गीत के शब्द, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के कथानुसार, 'पंखहीन तितली की तरह' अत्यन्त असमर्थ हो जाते हैं, और अक्सर अनुवाद में रही-सही खूबसूरती आधी भी नहीं आ पाती ।

पुरवाई लोकगीत के घर की वस्तु है। पुरवाई के बादलों को लोकगीत ने न जाने कितनी बार अर्घ्य दिया होगा। ज़रा चित्र तो देखिए। छकड़ा चला जा रहा है। कोई कह उठा—पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं, बैलों को तेज़ करो। देखते-ही-देखते घूंघट तले ग्राम्य-वधू की आंखें भी बरस पड़ीं, उसके गाल भीग गए। आँसुओं का नाम नहीं लिया गया, उनकी ओर संकेत भर किया गया है। वियोग के आंसू हैं ये शायद, पर वियोग ही क्यों, ग़रीबी के क्यों नहीं ? ग्राम्य-वधू का घूँघट भी तो पुरवाई के मेघ-सा श्यामल है, और मेघ बरसने पर जैसे धरती भीगती है, घूँघट तले भीग रहे हैं वधू के गाल। लोकगीत आँसुओं को झट देख लेता है। इसका वह चिर-अभ्यस्त है।

: २ :

सवेरा। श्री कृष्णानन्द गुप्त के साथ मैं नरौना ग्राम में आ पहुंचा हूं। एक छोटा गीत मैं लिख चुका। उसी छन्द में एक और गीत, जिसमें महोबे के स्वनामधन्य वीर आल्हा की सूनी तलवार का बखान किया गया है, मैंने अभी-अभी लिखा है—

रैन बिहूनी चन्दा बिन
पुरख बिहूनी नार
बहन बिहूनी भइया
गरुये आल बिना तलवार

—'जैसे चन्द्रमा-विहीन रात हो,
पुरुष-विहीन नारी,
भाई-विहीन बहन,
वैसे ही गर्वीले आल्हा बिना है यह तलवार !'

कृष्णानन्द मुझे बता रहे हैं कि आल्हा की वीरगाथा बुन्देलखण्डी लोकगीत को छू-छू गई है। पृथ्वीराज के समकालीन इस अमर वीर का अभिनन्दन जन-श्रुति में सर्वत्र मौजूद है। लोकगीत आरम्भ से ही वीर-पूजा का समर्थक रहा है। आज भी 'गरुआ आल्ह' (गर्वीला आल्हा) जन-मानस में मौजूद है, और लोकगीत में आल्हा की सूनी तलवार-सम्बन्धी उपमाएँ अपने अन्दर मसिया की चोट लिये हुए हैं।

और कई गीत मिले हैं। सभी बहुत काम के हों, यह बात नहीं। कुछ अपूर्ण ही मिले हैं। उच्च साहित्य में भी तो प्राय: रचनाएँ ऊँच-नीच लिये रहती हैं। यही हाल लोक-गीत की दुनिया का भी है।

लोकगीत के बिखरे ख़ज़ाने का दौरा कर देखिए। कई आभा-विहीन गीत, जिनमें जीवन और प्रतिभा की नसे रक्तहीन हैं, मौत और विस्मृति के पाँवों तले दम तोड़ते नज़र आयंगे। इनके सैकड़ों भाई इनसे पहले मर चुके हैं, आदमियों की भाँति ही। मौत अच्छे गीतो पर आती है; लेकिन मर-मरकर भी गीत फिर-फिर पैदा होते रहते हैं। कई बार तो पिछले जन्म का कमज़ोर गीत भी इस जन्म में एक अदम्य उत्साह पा लेता है; लेकिन यह तभी होता है, जब जनता की सृजन-शक्ति क़ायम हो और जीवन की प्रगतिशील नसों में ताज़ा लहू का बहना रुक न गया हो।

सेंतूलाल छत्तरी से 'पहाड़ी' ग्राम में भेंट हुई है। उसे एक पुराना गीत याद आ गया है। वह कहता है, यह 'फाग' है। उसके स्वरों में एक ख़ास असर है। गीत में एक पथिक को सम्बोधन किया गया है—

जिन जायो विदेसी दिन थोरो
दिन थोरो रे दिन थोरो
थोरो जिअन मुख ना मोरो
जिन जायो विदेसी दिन थोरो
ऊँचे अटा पै पलंग बिछादऊँ
दुआरे बांध दौ जो घोरो
जिन जायो विदेसी दिन थोरो

—'ओ परदेसी, मत जा, दिन थोड़ा रह गया है
दिन थोड़ा रह गया है रे
बहुत थोड़ा दिन रह गया है रे
जीवन थोड़ा ही तो है, मुख न मोड़ो

ओ परदेसी, मत जा, दिन थोड़ा रह गया है।
ऊँची अटारी पर पलंग बिछवा देती हूँ
अपना यह घोड़ा बाँध दो मेरे द्वार पर
ओ परदेसी, मत जा, दिन थोड़ा रह गया है।'

हम लौट आये हैं। सेंतूलाल का गीत मुझे पुरानी चीनी कविता की चित्र-सुलभ सरलता और व्यंजन की याद दिला रहा है।

भोजन से निपट कर मैं मैथिलीशरण और सियारामशरण के सम्मुख सेंतूलाल का गीत सुना रहा हूँ। "मार्मिक गीत है।" सियारामशरण से मुझे इन्हीं शब्दों की आशा थी। मैथिलीशरण भी सहमत हैं। मैथिलीशरण को भी एक गीत याद आ गया है। 'फिरसे कहिये'—यह कहकर मैंने अपनी कापी खोल ली है। इसे वह 'दादरा' बतला रहे हैं। इसका अनुवाद सहज है—

नजर भर हेरत काय नइयाँ
हम तौ राजा पिया बन की हिरनिया
तुम ठाकुर के लरका
तुपक तीर मारत काय नइयां
नजर भर हेरत काय नइयाँ
हम तौ राजा पिया जल की मछरिया
तुम धीमर के लरका
झमक जाल डारत काय नइयाँ
नजर भर हेरत काय नइयाँ

—'नज़र भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं ?
ओ प्रियतम ! ओ राजा ! मै तो बन की हरिनी हूँ
और तुम हो ठाकुर के लड़के।
अपनी बन्दूक या तीर मुझ पर क्यों नहीं छोड़ते ?
नज़र भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं ?
ओ प्रियतम ! ओ राजा ! मैं तो जल की मछली हूँ
और तुम हो धीवर के लड़के
फेंकते क्यों नहीं झट अपना जाल ?
नज़र भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं ?'

यह प्रेम-गीत ज़रूर एक अनुभूति लिये हुए है। सौन्दर्य-बोध के लिए आमन्त्रित करती हुई लजीली कन्या को आज अपनी बात कहनी ही पड़ी। हरिनी क्या स्वयं बन्दूक या तीर से घायल होना चाहेगी ? और मछली स्वयं धीवर युवक से जाल डालने को कहेगी ? कला के किस सत्य का प्राण-प्रवाह है यह ?

'पहाड़ी' ग्राम में पूछने पर पता चला है कि श्री मैथिलीशरण से प्राप्त हुआ गीत 'रावल' गीतों की बिरादरी में से है।

३० अगस्त। साढ़े चार बजे शाम। हम 'बस स्टैन्ड' पर पहुँच गए हैं। बस आध घंटे बाद चलेगी। तो कुछ किया जाय। लीजिए, मन्नू मिल गया। जात मरासी। अभी युवक ही तो है। गला अच्छा है। वह इधर-उधर के हिन्दी गाने सुनाने पर तुला हुआ है। 'भाई, मैं तो सिर्फ़ देहाती चीज़ चाहता हूँ'—यह मेरी ज़िद है। वह मान गया है। और उसने जो गीत गाया है, एक विशेष अंग की पूर्ति करता नज़र आता है—

पोता लाग रहा, महाराज
जुनरिया हो गई मन भरकी
मुनसी आए, पटवारी आए
आए तैसीलदार
होने लगी कुरकी
जुनरिया हो गई मन भरकी
लाँगा बिक गयो, लँगरा बिक गयो
बिक गई अँगिया तनकी
जुनरिया हो गई मन भरकी
राजा के बाँधन को सेला बिक गयो
फजिअत हो गई घर-घर की
जुनरिया हो गई मन भरकी

—'ओ महाराज, लगान अधिक देना पड़ रहा है,
ज्वार रुपये की मन भर हो गई है
मुन्शी आया, पटवारी आया,
लो तहसीलदार भी आया,
कुर्की होने लगी है,
ज्वार रुपये की मन भर हो गई है।
मेरा लहँगा बिक गया, ओढ़नी बिक गई,
तन की अँगिया भी बिक गई,
ज्वार रुपये की मन भर हो गई है।
सेला, जिसे मेरा पति पहनता था, बिक गया,
घर-घर हुई है यही फ़ज़ीहत,
ज्वार रुपये की मन भर हो गई है।'

अंगरेज़ी काल का यह बुन्देली लोकगीत किसानों की बढ़ती ग़रीबी का चित्र दिखा रहा है। अनाज की सस्ती के और लगान की बढ़ती के मारे जीवन दूभर हो रहा है।

निहारिये तो ज़रा कुर्की के करुण दृश्य घर-घर अनिमेष दृष्टि से ! किसान नारी, जिसका लहँगा कुर्क हो गया, जिसकी ओढ़नी और तन की अँगिया भी उतार ली गई, जिसके पति का एक मात्र रेशमी ओढ़ना कुर्क हो गया, क्या एक दम भीरु है ? इसी अवस्था के एक पंजाबी गीत में किसान नारी ने गेहूँ को, जो एक दम सस्ता बिक रहा था—इतना सस्ता कि उसे पैदा करने वाले के पल्ले कुछ भी मेहनत नहीं पड़ रही थी, सम्बोधन किया है—'ओ गेहूँ, एक बार फिर महँगे होकर दिखलाओ !' रसवन्ती, सुखद धरती की पुत्री—किसान नारी का दुःख-गीत प्रत्यक्ष जीवन के ताने-बाने से बना है। इस उलझी तानी को कौन सुलझायगा ? कब जागेगी वसुधा की किस्मत ? यहाँ यह पतझड़ ! और उधर साहित्य-सेवी जमाए बैठे हैं मधु ऋतु की महफिल; व्यंग-परिहास, नोक-झोक, गुलछर्रे ! करुण रस उनका सीमित है प्रेमियों की वियोग-व्यथा तक ! किसान ऐसे हैं, वैसे हैं, ग्राम्य-जीवन में पग-पग पर मिलते हैं प्रकृति-उर्वशी के पद-चिह्न—इसी मान्यता पर टिका हुआ है उनका गर्व असीम ! कब देखेंगे वे किसान को ? कब वे अपनी आँखों से रोती भारत माता को देखेंगे ? सुनेंगे कब अपने कानों से वे किसान के दुःख-गीत ? साहित्य में फिर से वसुधा का हृदय-स्पन्दन कब आयगा ?

: ३ :

कल रात भाँडेर में ही गुज़री, श्री रामकृष्ण शर्मा की हवेली में । शर्माजी यहां नहीं रहते । पाँडोरी में, जहां वह एक ज़मींदारी में मुख्य प्रबन्धक के पद पर नियुक्त हैं, उनसे भेंट होगी । वे मैथिलीशरण जी के मित्रों में से हैं । मेरे पास गुप्तजी का पत्र है । पांडोरी में हम शर्माजी के यहां ठहरेंगे ।

हम पांडोरी के लिए चल पड़े । थोड़ी दूर पर रास्ते में नदी पड़ी है । सुन्दर दृश्य है । शर्माजी की ज़मींदारी का एक पथ-प्रदर्शक हमारे साथ है । अपनी कन्या को गोद में लिये मैं पानी में चला जा रहा हूँ । मेरी पत्नी सहमी-सी मेरे पीछे आ रही है । 'आपके ग्राम-गीत धन्य हैं और आप भी !' —वह कह रही है, आपके साथ मुझे न-जाने ऐसी कितनी नदियाँ लाँघनी होंगी ?' जो हो, कविता, मेरी कन्या, खुश है । अपनी माँ का व्यंग्य वह अभी नहीं समझ सकती । 'मेरी मेहनतके ७० फी-सदी पुण्यका श्रेय तो तुम्हारा है । तुम मेरा साथ न देतीं तो कदाचित् मै हार चुका होता'—पत्नीसे यह कहता मैं नदी पार आपहुँचा हूं । अपने-अपने जूते पहने हम आगे बढ़ रहे हैं । कविता भूखी नहीं है; पर वह पंजाबी बाल-गान की एक कड़ी दोहराने लगी है—'चुल्हे उत्ते टुक्क नी गुलाबिए, मैंनूं लग्गी भुख्ख नी गुलाबिए ।' (ओ गुलाबी, चूल्हे पर रोटी का टुकड़ा पड़ा है । ओ गुलाबी, मुझे भूख लगी है ।) 'यह गुलाबी कोई स्त्री है, या तुम्हारी आयु की कोई छोटी बालिका ?' 'मैं यह क्या जानूं ?'—कहकर कविता फिर गाने लगी है ।

हम पांडोरी में पहुँच गए हैं । शर्माजी ने सब प्रबन्ध कर दिया है । पांडोरी में बहुत से गीत मिले हैं । स्थानीय थाने के एक सिपाही ने भी पांच-छः अच्छे गीत दिये हैं ।

सवाई दुलहिन एक ब्राह्मण स्त्री है। वह बहुत मधुर स्वर से गाती है। उसके एक गीत की टेक है—'बखरी में को निंबला काहे डोले ?' (घर में का नीम क्यों डोल रहा है ?) बुन्देलखण्ड का प्राकृतिक सौंदर्य यहां के लोकगीतों को भरसक उपादान दे सका है।

दरिद्र होकर भी सवाई दुलहिन खुश है। उसके मुंह से एक रसिया सुन लीजिए—

रसिया आये गरद उड़ी, गोरी
जब मोरे रसिया मेंड़े पै आये
सूखी दूब हरियानी, गोरी
रसिया आये गरद उड़ी, गोरी
जब मोरे रसिया कुयला पै आये
रीते कुया भर आये, गोरी
रसिया आये गरद उड़ी, गोरी
जब मोरे रसिया द्वार पै आये
मोतिअन चौक पुराये, गोरी
रसिया आये गरद उड़ी, गोरी
जब मोरे रसिया बखरी में आये
सोने कलस धराये, गोरी
रसिया आये गरद उड़ी, गोरी

—'भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती गर्द उड़ी।
जब मेरा भावुक प्रेमी मेड़ पर आया,
सूखी दूब हरी हो गई, ओ रूपवती !
भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती, गर्द उड़ी।
जब मेरा भावुक प्रेमी कुएँ पर आया,
रीते कुएँ में जल उमड़ आया, ओ रूपवती !
भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती, गर्द उड़ी।
जब मेरा भावुक प्रेमी द्वार पर आया
मैंने मोतियों से चौक पुराया, ओ रूपवती।
भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती, गर्द उड़ी !
जब मेरा भावुक प्रेमी घर में आया
खुशी में मैंने सोने के कलश धराये, ओ रूपवती !
भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती, गर्द उड़ी।'

कल्लू ने मुझे बता दिया था कि मुझे अधिक गीत चमारिनों से मिलेंगे और ऐसा ही हुआ भी। सबसे अधिक गीत गौरिया से मिले हैं। वह गाती है, तो जैसे कोयल बन जाती है। वह ग़रीब चमारिन है। त्याग और वैराग्य आमने-सामने होकर गरीबी में भी इसका

हृदय छू जाते हैं।

पांडोरी ग्राम के ही किसान का एक गीत मुझे मिला है—

बरसे नाईं पापी एक ऊझला
कर-कर बदरईं देगै दगा
पाँडोरी की सूख गै सब रे तला
बरसे नाईं पापी एकऊ झला
काय पै फिरतीं धरैं डला
पाँडोरी के सूख गै सब रे तला
बरसे नाईं पापी एकऊ झला

—'पापी ने हल्की वर्षा भी तो नहीं की
बादल उमड़ा-उमड़ा कर आख़िर दग़ा दे गया
पाँडोरी के सभी तालाब सूख गए
पापी ने हल्की वर्षा भी तो नहीं की।
अरी, तुम सिर पर टोकरियाँ लिये क्यों फिर रही हो ?
पाँडोरी के सभी तालाब सूख गए
पापी ने हल्की-सी वर्षा भी तो नहीं की।'

किसान-स्त्री आज भी पुरातन गीत के शब्द भूली नहीं—'सावन आ गया। मुझे लाल साड़ी ले दो और बिंदुली खरीद दो। रत्न-जटित अँगिया ले दो, जिसपर मोर और पपीहा चितेर हुए हों।' (सौना आये सालू लै दियो, और बिंदिया लै दियो मोल, अँगिया लै दियो रत्न-जड़ाव की, जा में लिखे पपइया-मोर)। या फिर टटोलते-टटोलते शायद आपको रँडुए किसान का हृदय कहीं मिल जाय—'कातिक महिना कूकर रोवै, गधवा रोवै भर बैसाख, रड़ुवा रोवै भर सावनमें, सुन-सुन बिछिअनकी झंकार !' (कार्तिक-भर कुत्ता रोता है। बैसाख-भर गधा रोता है। सावन-भर रँडुवा रोता है, बिच्छुओं की झंकार सुन-सुनकर।)

कल्लूसे मुझे एक 'पसर' का गीत मिला है। प्रायः आधी रातके बाद, या कभी ठीक बारह बजे ही, किसान बैलोंको चरानेके लिए हरी घास वाले स्थान पर ले जाता है। इसे ही 'पसर' कहते हैं। नई वधू ने प्रायः 'पसर' की शिकायत की है। इसी किसम का यह गीत है—

छिटक जुनइया निरमल जिन होइयो, जिन मेरी बैरिन होय
पिया पसर के बरदा ढीलियो, सेजरिया सूनी हो

—'अरी चाँदनी, छिटकना मत, निर्मल न होना, मेरी बैरिन मत बनना
पिया 'पसर' के लिए बैल ले जायगा, मेरी सेज सूनी रह जायगी।'

चाँद है। सूर्य है। आकाश पर पतुरिया-सी आँखें बिछाती बिजली है। देखो तो रातका यह दूसहा—निर्मल चाँद कैसे धरतीकी ओर निहार-निहारकर मुसकरा रहा है। भोर हुआ। उदय

होते सूर्यका कुंदन मुख, जिसे किसान अपने पड़ोसी की भाँति पहचानता है, जगती जोत लिये हाज़िर है। मेघ उमड़ आये। बिजली चमकी। घर बैठे-बिठाये इतना उपादान? गीत हैं सीधे-सादे, पर कितनी संकेतमय है उनकी पृष्ठभूमि—

चन्दाबरण वर मिल गये
सूरज-से मिल गये जेठ
बिजरी-सी चमकत ननदी मिली
बेला चमकत चारौं देस

—'चन्दा सरीखा वर मिल गया मुझे
सूर्य-सा जेठ मिल गया
बिजली-सी चमकती ननद मिली
छिनाल चारों ओर चमक रही है।'

उरोज अभी-अभी उभरने लगे हैं। रूपवती कृषक कन्या है। अल्हड़ युवक फबतीका निशाना बना। आप-से-आप जन्म हुआ है गीत का। सुनिये—

गोरी को जोबना हुमकन लगे
जैसे हिरनियॉ को सींग
मूरख जाने खता फुनगुनूँ
बे तो बॉट लगावे नीम

—'रूपवती के उरोज उभरने लगे,
हिरनी के उभरते सींगों के समान।
मूर्ख इन्हें फ़ोड़े-फुन्सी समझ रहा है,
नीम के पत्ते रगड़ कर लगा रहा है।'

फूल अकौआ फूलयो
और पीपर फूल न होयं
का टटोवै डाढ़ीजार के
जोबन मॉ हाड़ न होयं

—'आक के फूल खिले हैं
पीपल के फूल नहीं होते।
ओ डाढ़ीजार के बेटे, क्या टटोलता है?
उरोज में हड्डी नहीं हुआ करती!'

अँगिया फट गई। दर्जी कच्ची सिलाई के दोष से बाल-बाल बच गया है—

अंगिया जो उधर्‌ड़ी हरे लील की
छिपिया को नइऑ खोर

उठत बयस के दोई जोबना
कढ़ि आए पसरियाँ फोर

—'यह हरे-नीले वस्त्र की अँगिया उधड़ गई
दर्जी का कुछ कसूर नहीं
उठती जवानी के दोनों उरोज
पसलियाँ फोड़ निकल आये।'

जीवन में सभी कुछ रहेगा—अमृत भी तथा विष भी, विष भी तो कभी-कभी अमृतका काम देता है। ये गीत गाते समय भूख और गरीबी की चक्की में पिसने वाले किसान अपनी समस्त वेदनाएँ भूल जाते हैं।

: ४ :

बुन्देली लोक-गीतों का अध्ययन करते समय बुन्देलखण्ड का समस्त मान-अपमान, सुख-दुःख, धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज, सब हमारी आँखो में फिर जाते हैं। लोक-गीतोंसे कहीं अधिक लोक-जीवन की पृष्ठभूमि का ध्यान रखकर चलना होगा।

यह कहा जा सकता है कि लोक-गीतों का बचपन धर्म की छाया में व्यतीत होता है। गीतों की काफी संख्या ऐसी मिलेगी, जिनका जन्म पूजा, पर्व, त्यौहारों तथा व्रतों के साथ होता है। कुल देवताओं की पूजाओं के गिर्द घूमने वाले गीतों में जनता के रीति-रिवाज हमें अपनी आत्मकथा सुना देते हैं। जन्म, विवाह तथा मृत्यु-सम्बन्धी अन्धविश्वास, शकुन, अशकुन, भूत-प्रेतों की पूजा के मन्त्र और गीत, जादू-टोने और पशु-पक्षियों तथा पेड़ो सम्बन्धी विश्वास—इन सबके अध्ययन से हम बुन्देलखण्ड की नब्ज़ पर हाथ रख सकते है। इस श्रेणी के मुख्य गीत हैं—

१ माता के भजन
२ कार्तिक के गीत
३ बाबा के गीत
४ नौरता-गीत

वीर गाथाओं का अलग स्थान है। इनमें कथा गीतों के मुख्य विभाग ये हैं—

१ राछरे
२ पँवारे

एक और विभाजन यों हो सकता है—

१ लोरियां
२ बच्चों के खेल-गीत

फिर संस्कार गीत—

१ सोहरे
२ विवाह-गीत—साजन, बनरा, बधाई और गारी

फिर ऋतु-गीत—

१ सावन और मलारें

२ बिलवारी, जिसे क्वार में गाते हैं।

३ दिवाली, जो कार्तिक में गाई जाती है।

४ फागें। ये चार प्रकार की होती हैं—सखयाऊ फागें, खुरयाऊ फागें, चौकड़याऊ फागें, और छन्दयाऊ फागें।

इनके अतिरिक्त रसियों और दादरों का अपना स्थान है। लेदें भी बहुत शौक से गाई जाती हैं। और 'खैरों' को तो हम खेतों की कविता कह सकते हैं।

अलग-अलग जातियों के कुछ विशेष गीत भी मिलते हैं, जैसे धोबियों के 'धुबियाऊ', ढीमरों के 'ढीमरयाऊ', गड़रियों के 'गड़रायाऊ'।

इनके अतिरिक्त एक विभाजन और भी हो सकता है—

१ नृत्य-गीत

२ कथा-गीत

बुन्देली लोकगीतों की विवेचना करते हुए श्री कृष्णानन्द गुप्त ने ठीक ही लिखा है—

"रात्रि की गम्भीर निस्तब्धता में यदि आप कभी पहली बार डफ और झांझ की आवाज के साथ 'हो-ओ-ओ-ओ' की गूंजती हुई तान सुनें तो आपको ऐसा जान पड़ेगा कि जंगल के भूत-प्रेत जगाए जा रहे हैं। परन्तु वह वास्तव में 'कान्हा घँघरे का राछरा' गाया जा रहा है। आपका जी चाहे तो आप इस राछरे को 'अहीरों का काव्य' कह सकते हैं, क्योंकि इसकी नायिका एक अहीर की कन्या है। परन्तु बात यहीं खतम नहीं हो जाती। आइये, हम इस बात का पता लगावें कि यह 'कान्हा घँघरा' आख़िर था कौन और यह भी देखें कि जिस देहाती कवि ने उसे अपने काव्य का नायक बनाया है, वह कैसे समाज में रहता है और कैसी विचार-तरंगें उसके हृदय-मानस में उठ रही थीं। अहीरों के इस काव्य का अध्ययन करके हम यह पता लगा सकते हैं। इस विषय पर एक लेख भी लिखा जा सकता है, जो मनोरंजक होने के साथ ही शिक्षाप्रद भी होगा। परन्तु इस कार्य को हर कोई नहीं कर सकता।

"किसी भी ग्राम गीत का साहित्यिक मूल्य आँकना बड़ा कठिन है। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका क्या महत्व है। वास्तव में इन दोनों के बीच कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। एक सुन्दर ग्राम कहानी कला की श्रेष्ठ वस्तु हो सकती है। इसका परिचय हमें टालस्टाय की उन कहानियों से मिल सकता है, जिन्हें रूसी किसानों के मुख से सुनकर उसने अपने ढंग से लिख दिया है। साथ ही इस तरह की कहानियां ऐतिहासिक दृष्टि से हमारे लिए महत्वपूर्ण हो सकती हैं।

"हमारे प्रान्त मे अज्ञात काल से जो राछरे, पंवारे, देवी के भजन आदि प्रचलित हैं, वे तो हमारी प्राचीन संस्कृति के भग्नावशेष हैं। उनमें हमारे समाज और भाषा के विकास का इतिहास छिपा पड़ा है। ये गीत कब बने, किसने इनकी रचना की, इसका कुछ पता नहीं। परन्तु वे मानव सभ्यता के किसी बीते हुए युग की स्मृति हमे दिलाते हैं। ज़रा देखिए, अतीत का यह कवि जब कभी अपनी नायिका या नायक की यात्रा का वर्णन करता है, तो वह कोस या दो कोस का प्रयोग न करके कहता है—

इक बन चाली, दोय बन चाली,
तीजे वहाँ पहुँची, हो ओ जाय।

क्या ये पंक्तियां हमें सभ्यता की उस अवस्था का परिचय नही देतीं, जब सड़कें नहीं थीं, और मनुष्योंको सघन बनों से होकर ही अपनी यात्राका अधिकांश भाग पूरा करना पड़ता था? इसीलिए तो कवि कहता है, 'उसकी नायिका एक बन चली, दो बन चली, और तीसरा बन पार करके वह अपने स्थान पर पहुंची।'

: ५ :

बुन्देलखण्ड का सामूहिक व्यक्तित्व यहाँ के लोक साहित्य ही में अधिक प्रतिबिम्बित होता है। यहां के जङ्गलों, पहाड़ों, नदियों और सरोवरों ने शताब्दियों से उस रक्त को पैदा करने में सहायता दी है, जो बुन्देलखण्ड की धमनियों में आज भी बह रहा है—वह है यहां का परम्परागत मौखिक साहित्य, यहां का वाङ्मय जिसकी रक्षा के लिए केवल साहित्य-सेवी ही नहीं बल्कि भाषातत्वज्ञ भी अपना सहयोग दे सकते हैं। यह बुन्देलखण्ड की आत्मा को हमारे सामने ले आता है।

पुरानी ढेरी (टीकमगढ़) के नन्हे धोबी ने धनसिंह का गीत बड़े मधुर और करुण स्वरों में गा सुनाया था। वह कपड़े धो रहा था और उसका मन पीछे की ओर झांक रहा था—जाने कितने वर्ष पीछे की ओर! और बुन्देलखण्ड के इतिहास का एक पृष्ठ, जो उसके गीत में अङ्कित था, सरोवर की लहरों से खेलता नज़र आता था—

तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
छींकत बछेरा पलांनियों, बरजत भये असवार
जातन मारो गौर खौं गढ़ एरछ के मैदान
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
माता पकरें फैंटरी, बैन घोड़े की बाग
रानी बोलैं धनसिंघ की मोए कौन की करकें जात
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
माता खौं गारी दई, बैंदुल खौं दयो ललकार
बैठी जो रहियो, रानी सतखण्डा, मोतिन से भर देऊं मांग

तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
डेरी बोली टीटही, दाइनीं बोली सिहार
सिर के सामें तीतर बोले, पर भू में मरन काएं जात
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी ?
कोऊ जो मेले ढेरी ढेरी, कोऊ जिल्ला के बाग
जा मेले धनसिंघ जू, जां ठठे कसब के पाल
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी ?
पैले मते भये ओरछें, दूजे बरुया के मैदान
तीजे मते भये पाल में, सो मर गये कुंवर धनसिंघ
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
भागन लागे भागेलुआ, उड़ रई गुलाबी धूर
रानी देखे धनसिंघ की, घोरो आगओ उबानी पीठ
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
काटौं बछेरा तोरी बजखुरी, मेटौं कनक और दार
मेरे स्वामी जुझवाय कैं, तैं आय बंधो घुरसार
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
काय खौं काटो, रानी, बजखुरी, काय मेटौ कनक औ' दार
दग़ा जो होगे पाल में, मो पै होनेई न पाये असवार
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी

—'तेरी मति किसने हरली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
छोकें मारते तुमने बछेरे पर पलान कसा, मनाही करने पर सवार हुए
जाते हुए गौर को मार डाला गढ़ ओरछा के मैदान मे
तेरी मति किसने हर ली, धनसिह, तेरी मति किसने हर ली ?
माता कमरबन्द पकड़ती है और बहिन घोड़े की बाग
धनसिंह की रानी कहती है—मुझे किसे सौंप कर जा रहे हो ?
तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
माता को गाली दी, बहिन को ललकारा, (और रानी से कहा)—
रानी सतखण्डा, तुम बैठी रहो, मोतियों से मांग भरा दूँगा।
तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
बाईं ओर टिटिहरी बोली, दाईं ओर सियार
सिर के सामने तीतर बोल उठा—पराई भूमि पर क्यों मरने जाते हो ?
तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
कोई छोटी-मोटी बस्ती में सामना करता है, कोई जिला के बाग में

धनसिंह जाकर सामना करता है जहां 'कस्ब' वस्त्र के तम्बू लगे हैं
तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
पहली सलाह ओरछे में हुई, दूसरी बहआ के मैदान में
तीसरी सलाह तम्बू में हुई—सो कुंवर धनसिंह मारे गए।
तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
कोई भागा आ रहा है, गुलाबी धूल उड़ रही है,
धनसिंह की रानी देखती है कि घोड़ा खाली पीठ आ गया है
तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
हे बछेरे, खुरियों के ऊपरी भाग काट डालूँ, गेहूँ और दाल देना बन्द करदूं,
मेरे स्वामी को लड़ाकर तुम घुड़साल में आ बंधे।
तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
खुरियों के ऊपरी भाग क्यों काटती हो, रानी, गेहूँ और दाल क्यों बन्द करती हो ?
तम्बू में धोखा हुआ, ने मुझ पर सवार ही न हो पाये।
तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?'

आखिर यह कुँवर धनसिंह थे कौन जिनकी याद में एक नन्हें धोबी ही की आंखों में नहीं, बल्कि समस्त बुन्देलखण्ड की आंखों में आंसू आ जाते हैं ? और जब लोक-कवि यह बताता है कि धनसिंह ने छींकते हुए पलान कसा था और वह मना किये जाने की परवाह न करते हुए घोड़े पर सवार हो गया था, और रास्ते में उसके बाईं ओर टिटिहरी बोल उठी थी, और दाईं ओर गीदड़ चिल्लाने लगा था, तो हम किसी एक व्यक्ति या परिवार के नहीं, बल्कि समस्त बुन्देलखण्ड के पुरातन अशकुनों का परिचय पा लेते हैं।

स्व० कृष्ण बलदेव वर्मा के कथनानुसार बुन्देलखण्ड ने "बड़े ही प्राचीन काल से लेकर ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ काल तक अनेक प्रभावशाली राज्यों का उत्थान और पतन देखा है। यह क्षेत्र सदा साहसी वीरों का लीला-क्षेत्र रहा है। इसकी भूमि रक्त से सदैव सिंचित रहने के कारण प्रायः रक्तवर्ण ही रही है। उत्तरापथ और दक्षिणापथ का कटिबन्ध होने से यहां का इतिहास भी देश के इतिहास में एक विशेष महत्व रखता है।"

इतिहास की बड़ी-बड़ी बातें नन्हे धोबी क्या जाने, पर शायद धनसिंह के गीत की तरह के और गीत भी वह गाया करता है।

खेतों में 'सैरे' गाये जाते हैं। सीधे-सादे, नपे-तुले, घरेलू शब्दों के साथ किसान-कवि धीमा हल चलाये जाता है, कभी कभी इन गीतों में व्यंग्य भी समाया रहता है, जी चाहता है बढ़ कर किसान को गले लगा लें। उसकी रग-रग में प्रकृति प्रेम भरा है। वह जंगली सागों की मूक भाषा खूब समझता है—

चौरई नौरपा तोरे दिन कड़ गये
कनकौआ लहरियाँ लेय

ठाड़ो घूमा बिनती करें
मोरी तोरे फुंदरिया कोय

—'ओ चौलाई और नौरपा, तुम्हारे दिन बीत गए
कनकौआ लहरा रहा है
घूमा खड़ा विनती कर रहा है
कोई मेरी फुंदियां तोड़ ले।'

चौंरई (चौलाई), नौरपा, कनकौआ और घूमा ये सब जँगली साग हैं। नौरपा कांटेदार होता है और ग्रीष्म में उगता है। कनकौआ और घूमा वर्षा ऋतु के साग हैं। घूमा अपने पत्तों और सफेद फूलों के साथ पका कर खाया जाता है।

वर्षा ऋतु सुहावनी है। ये जो कनकौआ और घूमा लहरा रहे हैं, शताब्दियों से किसान इन्हें जानते हैं, इन्हें पका कर खाते आये हैं। और यह गीत कोई आज का नहीं है। सब लोग 'घूमा' खाते हैं। घूमा स्वयं जो कहता है—मुझे तोड़ लो, खा लो पका कर।

जीवन-पथ के एक-एक मोड़ पर लोकगीत में नई चेतना आती रहती है। और लोक गीत की रचना बुन्देलखण्ड में आज भी जारी है—

अंगरेजी परी, गोरी, गम खाने
काहाँ बने चौंकी काहाँ बने थाने
काहां जो बन गए वे जेलखाने
अंगरेजी परी, गोरी, गम खाने
अंगीत बनी चौकी पछीत बने थाने
बा के देरी पै बन गए जेलखाने
अंगरेजी परी, गोरी, गम खाने

—'अंगरेज़ी राज आ गया, गोरी धैर्य रखो!
पुलिस की चौकियां कहां बनीं, थाने कहां बने?
जेलखाने कहां बन गये?
अंगरेजी राज आ गया, गोरी, धैर्य रखो!
घर के आगे पुलिस की चौकियां बनीं, पिछवाड़े थाने,
घर की देहली पर जेलखाने बन गए
अंगरेजी राज आ गया, गोरी, धैर्य रखो!'

टीकमगढ़ की जमुनियाँ बरेटन यह 'दादरो' गाया करती है। शायद यह गीत उसी का बनाया हुआ है। मैंने बहुत पूछा; उत्तर में वह केवल हँसती रही। भूख और ग़रीबी के बोल उसके गीतों की विशेषता है। और अब तो 'फाग' के आनन्दोत्सव पर भी ग़रीबी बोल उठती है—

गौहूँ हते सो हो गये
भुस ले गई अंदवार
टोटे में टलवा गये
बाढ़ी में खगबार
जरीबाने में लिख लौ दोई जोबना

—'गेहूँ था वह खत्म हो गया,
घाटे में बैल बिक गए,
भूसे को झक्कड़ उड़ा ले गया।
बनिये को बाढ़ी का अनाज लौटाने में मेरी हँसी भी चली गई,
अब लगान न चुका सकने के जुरमाने में मेरे दोनों उरोज लिख लो!'

यह एक स्त्री की आवाज़ नहीं, समस्त जनता की आवाज़ है। इसे क्या हम एक व्यंग्य के रूप में देखें? यह दबी हुई, पिसी हुई जनता की आवाज़ है। बुन्देलखण्ड निर्धन सही, वह मूक नहीं।

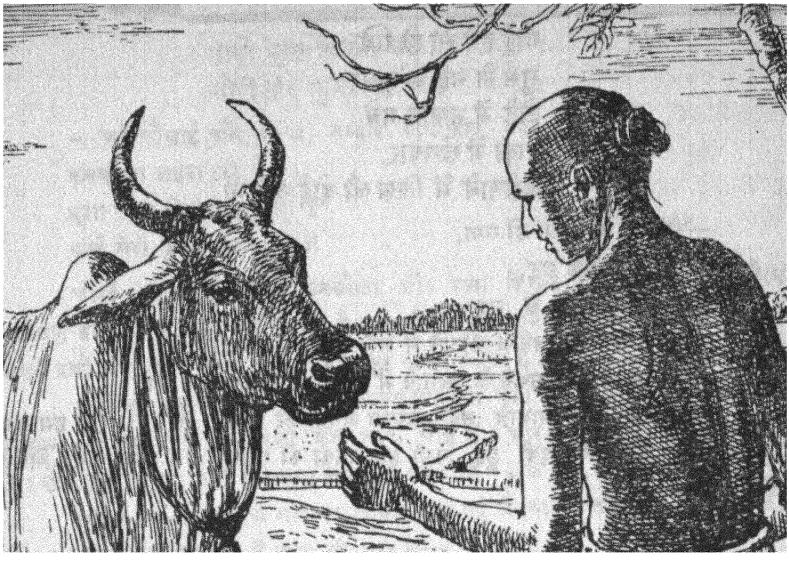

अपनी जोरू को समझा

'शाबाश बेटा ! अल्ला तेरी उमर बढ़ी करे...जल्दी-जल्दी पैर उठा, सयाने दूल्हा !.....'

इस समय मुझे किसानोंके ये शब्द याद आ रहे थे जो वे प्यारसे बैलको पुचकारते समय मुंह से निकालते हैं। अपने गांव में मैंने ये बहुत सुने थे। और उस समय ये अपनी सारी गति और प्रभाव के साथ मेरे मन में जाग उठे थे।

हम बहुत दूर निकल आए थे। खेतों में हल चल रहे थे। एक बूढ़ा किसान अपने बैलों को पुचकार रहा था। रास्ते में मैंने चित्र का दूसरा रुख़ भी देख लिया था। एक बैल बुरी तरह पिट रहा था।

द्वारकानाथ का ध्यान खींचते हुए मैंने कहा—"बैलों को यों पुचकारना भी उनसे काम निकालने का ही एक तरीक़ा है। और सच तो यह है कि यदि बैल के पैर आगे न उठें, या वह ज़रा सुस्त नज़र आए, तो यही किसान जो अब यों यह ज़ाहिर कर रहा है कि इसका सारा प्यार इसी बैल के लिए है, बेरहमी पर उतर आए और शायद यह भी न देखे कि कम मारने से गुज़ारा हो सकता है तो फिर ज़्यादा लाल-पीला होने की क्या ज़रूरत है।"

द्वारकानाथ बोला—"किसान स्वयं भी इन बैलोंसे अच्छी अवस्थामें नहीं हैं। फ़रक इतना ही है कि ये बैल न रोते हैं न हंसते हैं और न ज़्यादा बड़बड़ाते हैं। बस चुपचाप मार खाते

रहते हैं । स्वयं किसान बहुत चिल्लाते हैं। पर ज़मींदार का जूआ उनके गले में शायद सदा के लिए पड़ चुका है। अब ज़मीदार को तो वे कुछ कह नहीं सकते, बदले में अपने नीचे काम करने वाले ग़रीब बैलों पर अपना गुस्सा निकालते रहते हैं।"

उसका पूरा नाम था महीकेरे द्वारकानाथ बी० ए० । पर मेरे लिए वह केवल द्वारकानाथ था। उसकी मदद से मैंने उसकी भाषा के बहुत से लोकगीतों का अध्ययन किया था । प्रायः वह इस बात पर ज़ोर दिया करता था कि कर्नाटक के लोकगीत बेहद सादा होते हैं, इसीलिए वे हम पर इतना अधिक असर करते हैं,और यही उत्तम गीतों की पहचान है।

मैंने उसे बताया कि एक बैल पंजाबी लोकगीत में अपने मालिक से यह शिकायत करता है कि बुढ़ापे में उसे मण्डी मे ले जाकर बेच आने का ख़्याल सिरे से बेरहमी पर टिका हुआ है। मण्डी में उसे कोई बूचड़ ही ख़रीद सकता है। इससे कहीं अच्छा तो यह हो कि वह उसे घर पर ही रखे और हरी घास की बजाय सूखे तिनके ही खिला दिया करे।

वह बोला "हो सकता है कि बूढ़े बैल का ऐसा कोई गीत हमारे प्रांत में भी मिल जाय, पर बैल का एक दूसरा गीत मुझे याद है। वह 'येत्ति ना हाड्डू' कहलाता है। 'येत्ति' हम बैल को कहते हैं, 'हाड्डू' गीत का पर्यायवाची है। 'येत्ति ना हाड्डू' अर्थात बैल का गीत। पर प्रसंग के अनुसार मै इसे 'बैल की शिकायत' कहना उचित समझता हूं।"

"किसकी शिकायत की है बैल ने ?"

"अपनी मालकिन की।"

"पूरा विचार तो वह गीत सुनने के बाद ही किया जा सकता है पर इतना ज़ाहिर है कि हमारे लोकगीतों में सदियों से हल में जुतने वाले बैल भी अपने भाव बतलाते आए हैं।"

"यह क्यों नहीं कहते कि स्वयं चुप रह कर बैलों ने अपनी भाषा किसानो को दे दी है।"

"सच कहा···बात यह है कि हमारे किसानों का जीवन,जैसा कि मैक्सिम गोर्की ने पुराने रूस के सम्बंध में लिखा है, 'ऐसी ग़रीबी और जहालत में गुज़रता है कि ग़म उनके दिल-बहलाव का एक बहाना बन जाता है। दुःख और संकट से वे बच्चों की तरह खेलते हैं और अपनी तकलीफ़ पर शर्मिन्दा नहीं होते। काम से थक जाते हैं तो बदनसीबी के तकिये पर आराम करते हैं। आग है उनके लिए खिलौना, और घाव हैं उनके शरीर का गहना...' और अपने ग़म के अलावा किसान अपने पशुओं के ग़म को भी अपने दिलबहलाव का कुछ कम बहाना नही समझते। जिस तरह ख़ामोश बैल ने अपनी भाषा अपने मालिकको सौंप दी है उसी तरह पुराने ज़माने में कितने ही दूसरे पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों ने अपने मर्म-भरे भाव उन ऋषियों को सौप दिये थे जो जंगलों में आश्रम बनाकर रहते थे । प्राचीन हिन्दुस्तान की कविता इसकी अमानतदार है।"

सामने एक किसान अपने बैल को पुचकार रहा था। मैंने पूछा—"यह भला आदमी क्या कह रहा है ?"

"जल्दी-जल्दी चल, मेरे नन्दी, वह कह रहा है, जैसे स्वयं वह कोई शिव हो।"

हम एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। परे एक मन्दिर नज़र आ रहा था। शायद वह शिव का मन्दिर था। मन्दिर का शिव क्या जानता था कि खेतों में हल चलाते समय अपने बैल को पुचकारते हुए धरती का बेटा भी देवता बन जाता है, और फिर जब वह एक लम्बे या छोटे विराम के बाद उसी ज़बान से गालियाँ देने लगता है तो अपने बड़े-से-बड़े देवता से भी नहीं डरता।

द्वारकानाथ अपना गीत सुनाने लगा—

मागीय होड़ियागा,
ननना कइले माथ दिन्दा माड़िसीकोण्ड्या,
ना होगी ओन्दा,
तेनिधन्टा तिनदरा,
कल्ल कल्लीले होड़ादियो,
नम जीवा होदावो कइलासका।

—'माघ महीने का हल चलाते समय
मुझसे प्रेम के साथ सब काम करा लिया।
मैंने जाकर अनाज की एक बाल खा ली
तुमने मुझे पत्थरों से मारा
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।'
मैंने हैरान होकर कहा "तो बैल मर गया ?"

"नहीं तो। गीत के इस भाग की अन्तिम पंक्ति में बैल कहता है कि उसकी आत्मा किसान के पत्थर दे मारने से तड़प उठी और कैलास को चली गई ताकि शिव से शिकायत करे। शिव पर यह ज़िम्मेवारी है कि वह बैलों पर होनेवाले अन्याय की रोकथाम करे, नहीं तो उसे नन्दी बैल पर सवारी करने का क्या हक़ है ?"

पर मेरे मन में मेरा अपना ख़्याल बराबर बना हुआ था—तो बैल मर गया ?

गीत की आवाज़ सुनकर कुछ किसान हमारे समीप आ गए। उनमें से एक जो बहुत बूढ़ा था, मेरे चेहरे की ओर ध्यान से देख रहा था। मुझे यों लगा कि मेरे अपने दादा मेरे सामने आ बैठे हैं।

द्वारकानाथ ने गीत का दूसरा चरण शुरू किया—

ना वोन्दा बित्तिदा
ना ओन्दा बेलादीदा

ना होगी ओन्दा
होड़े धन्टा तिनदरा
बड़बड़ागिले होड़ादियो
नम जीवा होदावो कइलासका

—'मैंने ही यह खेत बोया
मैने ही इसमें अनाज उगाया।
मैंने जाकर एक बे-दानों की बाल खा ली
तुमने मुझपर लगातार डण्डे बरसाये
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।'

मैंने कहा—"बैल की पुकार कितनी करुण है। सदियों से यह पुकार इसी तरह उठ रही है। अब तक यह आवाज़ शायद नन्दी बैल तक नहीं पहुँची, नहीं तो क्या वह अपने ऊपर सवारी करने वाले देवता से कहकर अपनी बिरादरी वालों का दुःख सदा के लिए मिटा न डालता ?"

द्वारकानाथ मेरे व्यंग को समझता था। वह मुस्कराकर मेरी तरफ़ देखने लगा। वह बूढ़ा किसान ऐसी चुभती हुई निगाह से मेरी आंखों में झांक रहा था जैसे उसने मेरी बात समझ ली हो और कहना चाहता हो कि शिव और नन्दी के सम्बन्ध में यों सोचना पाप ही तो है।

द्वारकानाथ ने गीत का तीसरा चरण शुरू किया—

हत्तीकला कुड़ अन्दरा
निना मड़दी अत्ता मारी तिरूव्याला
हत्ता गोलागा तिन्नन्दरा
खण्डगा तिन्नुवा
तुण्डीना तन्धूड़ो
नम जीवा होदावो कइलासका।

—'तुम मुझे बिनौले खिलाने को कहते हो
तुम्हारी जोरू दूसरी तरफ मुँह फेर लेती है,
तुम उससे दस 'गोलागा' अनाज खाने को कहते हो
वह एक 'खण्डगा' खा डालती है।
इस अल्हड़ अलबेली को तुमने क्यों डाल रखा है घर में ?
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।'

द्वारकानाथ ने बतलाया कि 'गोलागा' एक तरह का नाप होता है और एक 'खण्डगा' बीस 'गोलागा' के बराबर होता है।

मैने कहा—"यहाँ बैल की आवाज़ एक कुदरती स्पष्टता लिये हुए है। जब वेदना अपने

शिखर पर पहुंच जाती है तो प्रायः आदमी पागल हो जाता है, पर बैल की अवस्था में ऐसा नहीं हुआ। यहां पहुँच कर वह भूल गया कि स्वयं किसान ने उसे अनाज की एक बाल खा लेने के कसूर में पत्थरों और डण्डों से मारा था। अपने पति से यह सुनकर कि बैल को बिनौले खिलाने चाहिये, किसान की पत्नी ने मुँह फेर लिया। बस यह लापरवाही उसे एक आंख न भाई। और बैल यह भी चाहता है कि उसके मालिक के घर का खर्च किफ़ायत से चले।"

द्वारकानाथ गीत का अगला चरण गा रहा था—

हिण्डीया कुड़्अन्दरा
निना मड़्दी मूगने मुरादाला
खण्डगा तिन्नन्दरा
इख्खण्डगा तिन्नन्था
तुण्डीना तन्धूड़ो
नम जीवा होदावो कइलासका

—'तुम मुझे खली खिलाने को कहते हो
तुम्हारी जोरू नाक सिकोड़ लेती है,
तुम उससे एक खण्डगा अनाज खाने को कहते हो
वह दो खण्डगा खा डालती है।
इस अल्हड़ अलबेली को तुमने क्यों डाल रखा है घर में ?
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।'

सब किसान क़हक़हा मार कर हंस पड़े। द्वारकानाथ झेंपकर बोला—"ये लोग कुछ नहीं जानते। इनकी इतनी समझ ही नहीं कि गीत की अन्तरीय वेदना को पहचान सकें। मुझे खूब याद है जब मैंने पहले-पहल एक गाँव में इसे सुना था तो मेरी आँखें भीग गई थीं।"

इतनी खैर थी कि उसने ये बातें कन्नड़ भाषा में नहीं कही थीं। किसान हमारी तरफ़ ध्यान से देख रहे थे। और वह बूढ़ा किसान तो यों देख रहा था जैसे मेरे आर-पार देख लेगा।

द्वारकानाथ गीत का चौथा चरण गा रहा था—

इक्की दरा हेण्डी नादिना
हुच्चीदरा कुल्ल नादिना
देवरा मुन्दीना
परसादा ना आदा
मत्त्याता कादेना
नम जीवा होदावो कइलासका

—'शौच करूं' तो गोबर प्राप्त होता है
गोबर थापने से उपले बनते हैं,
देवता के सामने का
प्रसाद भी यों मेरी मदद से प्राप्त होता है।
फिर और किस-किस काम आऊँ ?
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।'

द्वारकानाथ ने बताया कि चौथी पंक्ति में जिस प्रसाद का नाम लिया गया है वह भस्म या भभूत है जो आखिर उपलो से बनती है और मन्दिरों में प्रायः भक्तों में बांटी जाती है।

फिर वह अन्तिम चरण गाने लगा—

सत्तरा तोगलादेना
मेट्टिदरा केरावादेना
हेगला म्यालाडन्ता
बारकोला ना आदा
मत्त्याता का देना
नम जीवा होदावो कइलासका

—'मर जाता हूं तो खाल प्रदान करता हूं
पहनने को इसी से जूते बनने हैं,
हमारे कन्धों पर लहराने वाला चाबुक भी (इसी खाल से)मैं ही प्रदान करता हूं।
फिर और किस-किस काम आऊँ ?
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।'

गीत समाप्त हो गया। पर किसान हिलने का नाम न लेते थे। द्वारकानाथ से पता चला कि यह गीत 'मल्लीगे दण्डे' (चमेली का गुच्छा) नामक लोकगीत-संग्रह में जिसका संपादन श्री कापसे रेवप्पा नवरू ने किया है, प्रकाशित हो चुका है। फिर कुछ विराम के बाद वह बोला—"मूक पशु पर आदमी कितना अन्याय करता है !"

अपना यह ख्याल उसने कन्नड़ भाषामें किसानोंके सामने रख दिया। बाक़ी सब खामोश रहे पर वह बूढ़ा बड़बड़ाने लगा। पता चला कि वह द्वारकानाथ की राय से सहमत नहीं है। 'किसान बूरा सही उसकी जोरू भी बुरी सही, पर ये गीत किसी बैल ने थोड़ा ही बनाया है। बैल तो केवल बहाना है। सच पूछो तो ये गीत हमने अपनी बाबत बनाया है'—कुछ इस तरह का ख़याल उस बूढ़े किसान ने प्रकट किया।

फिर किसान स्त्रियाँ अपने पतियों के लिए खाना लेकर आ पहुँचीं। बूढ़े किसान ने मुट्ठी भर भात पास आ बैठे बैल के मुँह में डाल दिया तो उसकी जोरू लाल-पीली होकर बोली—"बड़ा आया है दयावान ! पहले अपनी भूख तो मिटा ले....."

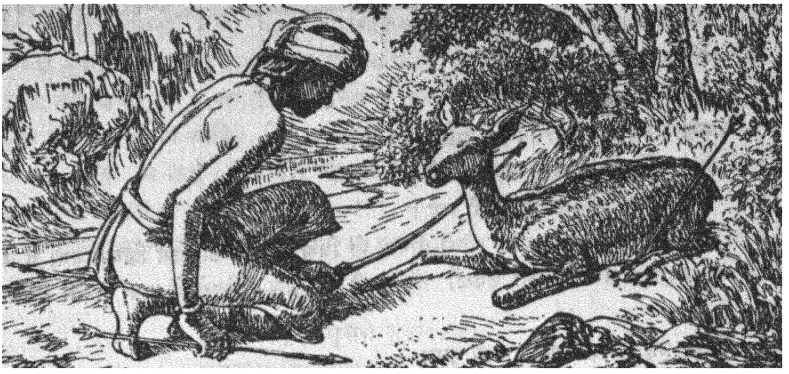

हिरनी की पुकार

एक बँगला लोकगीत है—हिरनी की पुकार। मुझे यह गीत बहुत पसन्द है। लोक-जीवन की जीवित और प्रत्यक्ष कविता का, जो हिन्दुस्तान के प्रान्त-प्रान्त में अनेक युगों से गूँजती चली आ रही है, यह एक सुन्दर नमूना है।

श्री दुर्गादास लाहिड़ी ने सन् १९०५ में 'बाँगालीर गान' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित किया था। इस पुस्तक का एक अध्याय है—'निरक्षर कविर गान' (निरक्षर कवि के गीत)। उसी में इस लोकगीत का समावेश हुआ है। मूल संग्रहकर्ता ने यह भी लिखा है कि यह गीत त्रिपुरा से मिला था—

हिरणी घास खाय
शिकारी तामशा चाय
आचम्बिते मारिलो शेलेर घा
तखन हरिणी ब'ले रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
बनेर हरिणी आमी
कारो धार नाहिं धारी
रक्त मांस आमार जगतेर बैरी रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
तोर जलार जल न खाई
तोर बिलेर घास न खाई
बिना दोशे बधिली आमार पराण रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे

न खायो आइलाम छाया-आले दूध
न देखिलाम तार चन्द्रमूख
न कहिलाम स्नेह रसेर कथा रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
मरि ताते दूख नाई
किन्तु रे शिकारी भाई
ऊपरे देबतार काछे कि दिबे जबाब रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
जखन शिशु क्षुधाय जले
काँदिबे 'मा ! मा !' ब'ले
तार डाक देबतार बूके निश्चय बाजिबे रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
संगेर संगीरा भाई
कोइयो हरिणेर ठाईं
दूधेर शिशु राखिते जतने रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
जन्मेर मतो देखा-शुना
ब'लो तारे आर हबे ना
फुराइलो सकल साध शिकारीर बाणे रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
कोन ना कामारे रे
ए शेल गड़िलो रे
तार बंश होक निरबंश रे
कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे

—'हिरनी घास चर रही है,
शिकारी निशाना बाँध रहा है,
अचानक उसने तीखे तीर से हिरनी को घायल कर दिया।
हिरनी कहती है—
'कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज़ !
मैं बन की हिरनी हूँ,
किसी से कुछ उधार नहीं लेती,
मेरा रक्त-मांस जगत् का बैरी हो गया रे !
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज़ !

तेरे जलाशय का मैं जल नहीं पीती,
तेरे चरागाह का मै घास नहीं चरती,
बिना कसूर ही मेरे प्राणों का वध कर डाला है रे !
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज़ !
न जी भर दूध पिलाया मैंने अपने बच्चे को,
न जी भर देख पाई उसका चाँद-सा मुखड़ा,
न जी भर कर पाई उसके साथ स्नेह की बातचीत ।
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज़
मैं मर रही हूँ, इसका मुझे दुःख नहीं,
पर ओ शिकारी भाई,
ऊपर देवताओं के सामने क्या जवाब दोगे ?
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज़ !
जब मेरा शिशु भूख से जल उठेगा,
और रोयेगा 'माँ, ओ माँ !' कहकर
उसकी पुकार देवताओं के हृदयों मे ज़रूर प्रतिध्वनित हो उठेगी ।
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने,ओ भाई तीरन्दाज़ !
ओ संग की सखियो ! ओ भाइयो !
मेरे हिरन से कहना
वह दुधमुँहे शिशु को यत्न से पाले पोसे
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !
जन्म भर दर्शन और आलाप,
उससे कहना, अब फिर नही होगा,
जो अब अन्त हुआ सब इच्छाओं का, शिकारी के तीर से ।
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज
किस लुहार ने रे
बनाया था यह तीर ?
उसका वंश निरवंशी हो जाय !
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज़ !'

'हिरनी की पुकार' के शब्द एकदम नपे तुले हैं । शिकारी, जो अपने तीखे तीर से हिरनी को घायल कर देता है, कुछ नहीं बोला । हिरनी उसे 'ओ भाई तीरन्दाज़ !' कहकर सम्बोधित करती चली गई है । उसके हृदयस्पर्शी बोल लोकगीत सुलभ जीवित करुण-रस में सने हुए हैं । और ठीक बात तो यह है कि हिरनी के शब्दों मे जनता की अपनी आप-बीती अभिव्यक्ति पा उठी है ।

एक संस्कृत कवि ने, जिसका नाम इतिहास को मालूम नहीं, एक शिकारी के जाल में फंसी हिरनी की करुण पुकार अपने एक श्लोक में पिरो डाली थी—

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमंगात्
मां मुंच ! वागुरिक ! याहि कुरु प्रसादम् ।
अद्यापि घासकवलग्रसनानभिज्ञो
मनमार्गवीक्षणपरस्तनयो मदीयः ॥

—'स्तनों के अलावा सारे शरीर से मांस लेकर मुझे छोड़ दो
ओ शिकारी इतनी मेहरबानी करो ।
मेरा बेटा, जो अभी घास के ग्रास खाना नहीं जानता,
मेरी बाट जोहता होगा !'

हिरनी का एक हिन्दी लोकगीत करुण-रस के बड़े-से-बड़े काव्य से टक्कर खाने की हिम्मत रखता है । इसे 'सोहर' गीतों की बिरादरी में स्थान मिला है । पुत्र जन्म के शुभ अवसर पर यह गीत क्यो गाया जाता है, यह बात मेरी समझ में नहीं आई । बहुत सम्भव है, गली-मुहल्ले की स्त्रियाँ, खुशी की मस्ती में इस गीत की दुःखान्त झाँकी की ओर अधिक ध्यान न देती हों, पर कोई-कोई स्त्री तो ऐसी भी ज़रूर रहती होगी, जो हिरनी की करुण जीवनी में अपने ही जीवन की समस्त वेदनी की मूर्ति पा लेती हो—

छापक पेड़ छिउलिया
तौ पतवन गहबर
अरे रामा तिहितर ठाढ़ी हरिनियाँ
त मन अति अनमनि हो
चरतै चरत हरिनवाँ
तौ हरिनी से पूँछइ हो
हरिनी की तोर चरहा भुरान
कि पानी बिन मुरझिउ हो
नाहीं मोर चरहा भुरान
न पानी बिन मुरझिउँ हो
हरिना ! आज राजाजी के छट्ठी
तुहैं मारि डरिहइँ हो
मचियै बैठी कौशिल्या रानी
हरिनी अरज करइ हो
रानी ! मसुवा तौ सिझहीं रसोइया
खलरिया हमैं देतिउ
पेड़वा से टँगबइ खलरिया

त मन समझाउब हो
रानी ! हेरि फेरि देखबइ खलरिया
जनुक हरिना जीतइ हो
जाहु हिरनी घर अपने
खलरिया नाहीं देबइ हो
हरिनी ! खलरी क खँजड़ी मिढ़उबइ
त रामा मोर खेलिहइँ हो
जब-जब बाजइ खंजड़िया
सबद सुनि अनकइ हो
हरिनी ठाढ़ि ढेंकुलिया के नीचे
हरिन क बिसूरइ हो

—'ढाक का छोटा सा पेड़ है एक
घने पत्तों से लहलहाता ।
अजी ओ राम ! उसके नीचे एक हिरनी खड़ी है,
उसका मन बहुत अनमना है ।
चरता-चरता हिरन
हिरनी से पूछ रहा है—
'री हिरनी ! तेरा चरागाह सूख गया है क्या ?
या पानी बिना मुरझा गया है तेरा मन ?'
'न मेरा चरागाह ही सूखा है,
न पानी बिना मुरझाया है मेरा मन
ओ हिरन ! आज राजाजी के घर में नवजात पुत्र की छठी है,
राजा के शिकारी तुम्हें मार डालेंगे ।'
मचिया पर बैठी है रानी कौशल्या
हिरनी अर्ज़ कर रही है—
'रानी ! मेरे हिरन का मांस तो सींझ रहा है आपकी रसोई में,
हिरन की खलड़ी मुझे दिलवा दो ।
पेड़ से टाँग दूंगी मैं यह खलड़ी
घूम फिर कर उसकी ओर देखा करूँगी
रानी ! देख-देखकर मन को समझा लूंगी,
जैसे हिरन जीता ही हो ।'
'जा, ओ हिरनी, अपने घर
खलड़ी मैं न दूँगी

ओ हिरनी ! खलड़ी से खंजड़ी मढ़वाऊँगी,
मेरा राम खेला करेगा उससे ।'
जब-जब खंजड़ी बजती है,
उसका शब्द सुनकर हिरनी कान खड़े कर लेती है।
हिरनी, ढाक के नीचे खड़ी होकर
हिरन को याद करती है ।'

कौशल्या और राम के नाम इस गीत में क्यों पिरोये गये हैं, इसकी मीमांसा सहज नहीं। ऐतिहासिक नामों को लोक-जीवन की धरती पर उतारने की मनोवैज्ञानिक धारा बहुत पुरानी प्रतीत होती है। ग्रामों में घर-घर सास-ससुर में कौशल्या और दशरथ की कल्पना की गई है। फिर हर माँ अपने शिशु में बालक राम की तस्वीर देख ले, यह कोई अनहोनी बात नहीं। प्रान्त-प्रान्त में गृहस्थी के गीतों में राम, सीता और लक्ष्मण तो किसानों में शामिल हुए हैं, पर इस गीत में बेरहम नारी के रूप में कौशल्या की भावना एक असंगत प्रवृत्ति है।

'कविता-कौमुदी ग्राम-गीत' में इस गीत की विवेचना करते हुए श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—"हरिनी हिरन की खाल इसलिए माँगती थी कि वह उसे देख-देखकर हृदय को ढाढ़स देगी और 'हिरन जीता है' इस भ्रम को सत्य समझ कर एक कल्पित सुखका अनुभव करेगी। मनुष्यों में कितनी ही ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो अपने मृत पति या पुत्र की चीज़ें बड़ी सावधानी से रख छोड़ती हैं और एकान्त में उन्हें देख-देखकर एक अद्भुत प्रकार का सुख अनुभव किया करती हैं। अन्त में हिरन की खाल की खंजड़ी बनी। खंजड़ी जब बजती थी, तब उसकी ध्वनि से हरिनी के हृदय में प्रेम का एक इतिहास जाग्रत होता था, और वह उसी इतिहास में लय हो जाती थी।...गीत की हिरनी की मूक वेदना मनुष्य के हृदय को हिला दे सकती है। यहाँ हिरनी के बदले किसी सहृदया स्त्री ने अपना चित्र लाकर खड़ा कर दिया है।"

एक दूसरे सोहर गीत में, फिर एक बार हम एक हिरनी का मन उदास पाते हैं। सीता गर्भवती है। आज सीता के पुत्र होगा। इस खुशी में हिरनी के प्यारे जीवन-संगी को लक्ष्मण खोजने आयगा, और राजा का बहेलिया हिरन को मार डालेगा। फिर हम देखते हैं कि हिरनी कौशल्या के पास जाकर हिरन के प्राण बचा लाती है। यहाँ कौशल्या के मुख से जो शब्द कहलाये गए हैं, वे आदर्श प्रेम में पगे हुए हैं। इस सुन्दर गीत के संग्रह का श्रेय भी श्री रामनरेश त्रिपाठी को प्राप्त है—

छोट मोट पेड़वा ढकुलिया
त पतवा रे लहालही हो
रामा ! ताहा तर ठाढ़ि रे हिरनिया
हरिन बाट जोहइ हो

बन में से निकलेला हरिना
त हरिनी से पूँछले हो
हरिनी काहे तोर बदन मलीन
काहे मुँह पीअर हो
गइलों मैं राजा के दुअरिया
त बतिया सुन अइलों हो
प्यारे आजु छोटे राजाक बहेलिया
हरिन मरवइहइं हो
केइ जे बगिया लगवले
केइ रे आए ढुँढ़ले हो
हरिनी केकर धनिया गरभ से
हरिन मरवावले हो
दशरथ बगिया लगवलें
लखन आये ढूँड़ले हो !
प्यारे रघुबर धनिया गरभ से
हरिन मरवावले हो
कर जोड़ो हरिनी अरज करे
सुन कौशल्या रानी हो
रानी सीता के होइहैं नन्दलाल
हम ही कुछ दीहब हो
सोनवा मढ़इबों दुहु सिंगवा
भोजनवा तिल-चाउर हो
हरिनी भुगतहु अयोध्या के राज
अभै बन बिचरहु हो

—'छोटा-मोटा ढाक का एक पेड़ है
पत्तों से लहलहा रहा है वह।
ओ राम ! उसके नीचे खड़ी है हिरनी,
वह हिरन की बाट जोह रही है।
बन में से निकला हिरन
उसने हिरनी से पूछा—
'हिरनी, किस लिए तेरा वदन मलीन है ?
किस लिए मुँह पीला पड़ गया है ?'
'राजा के द्वार पर गई थी मैं,

वहां से बातचीत सुन आई हूँ।
ओ प्यारे ! आज छोटे राजा अपने बहेलिये से
हिरन को मरवा डालेंगे।'
'किसने बाग़ लगवाया ?
कौन मुझे ढूँढ़ने आया ?
हिरनी ! किसकी युवती स्त्री गर्भवती है
कि हिरन को मरवा डालेंगे ?'
'दशरथ ने बाग लगवाया
लक्ष्मण तुझे ढूँढ़ने आया,
ओ प्यारे, रघुवर की युवती स्त्री गर्भवती है
उन्हीं के लिए हिरन को मरवा डालेंगे।'
हाथ जोड़कर हिरनी अर्ज़ कर रही है—
'सुनो, कौशल्या रानी !
रानी सीता के पुत्र होगा, आज मुझे कुछ दो।'
'सोने से मढ़ाऊँगी तेरे हिरन के दोनों सींग,
खाने को दूँगी तिल और चावल।
हिरनी ! अयोध्या का राज भोग
निर्भय होकर बन में विचरो।'

हिरन बच गया। यही बस है। हिरन के सींग सचमुच सोने से मढ़े गए थे या नहीं, इसकी हमें परवाह नहीं। एक व्यापक अनुभूति, जो कौशल्या की वाणी में यहाँ मौजूद है, हमें यह विश्वास दिलाती है कि जीवन में दया और हमदर्दी ने अपना स्थान एकदम गँवा नहीं दिया है।

शिमले की पहाड़ियों में तथा पंजाब के काँगड़ा ज़िले में हिरन का एक करुण गीत बहुत प्रचलित है। एकाएक हिरन अपनी गौरवपूर्ण बात कहने लगता है—

चुगदा चुगेंदा हिरनू बोलदा
मीयाँ हेड़ीआ वो
संगोटू ताँ मेरे कुसी साधे जो देयाँ
साधे सन्ते जो देयाँ
जेहड़ा दुर-दुर बजावे नाद
मीयाँ हेड़ीआ वो
खल्लड़ू ताँ मेरा कुसी पण्डते जो देयाँ
पण्डते पाधे जो देयाँ
जेहड़ा बैठे आसन लाई के

मीयाँ हेड़ीआ वो
अख्खीं तॉ मेरीयॉ कुसी राणिएँ जो देया
राणिएँ सुन्दरॉ जो देआँ
जेहड़ी रक्खे डब्बिया पाई के
मीयाँ हेड़ीआ वो
लत्ताँ तॉ मेरीयाँ कुसे घोड़े जो दैयाँ
घोड़े बाँके जो देयाँ
जेहड़ा रण विच्च पावे जीत
मीयॉ हेड़ीआ वो

—धरता-चरता हिरन कहता है—
'ओ मियाँ शिकारी !
मेरे सींग तो किसी साधु को देना
साधु या सन्त को देना,
जो दुर-दुर नाद बजावेगा।
ओ मियॉ शिकारी !
खलड़ी तो मेरी किसी पण्डित को देना
पण्डित या उपाध्याय को देना,
जो उसपर आसन लगाकर बैठेगा।
ओ मियाँ शिकारी !
आँखे तो मेरी किसी रानी को देना
रानी या सुन्दर नारी को देना,
जो उन्हें डिबिया में डाल कर रखेगी।
ओ मियाँ शिकारी !
टाँगें तो मेरी किसी घोड़े को देना
बांके घोड़े को देना,
जो रण में विजय प्राप्त करेगा,
ओ मियाँ शिकारी !'

शिकारी को सम्बोधन करके हिरन ने जो बातें कही हैं, वे हमारे हृदय में सहानुभूति जगा देती हैं, शिकारी पर इनका क्या असर हुआ था, गीत में यह बात नहीं आई। एक किंवदन्ती यह है कि शिकारी ने हिरन की जान नहीं ली थी। शुरू में हिरन तीर से घायल होकर चलने से रह गया था, या जाल में फँस गया था, यह सब हम नहीं जान पाते। हिरन और हिरनी जनता के प्रतीक हैं। जनता अपनी आशा और निराशा की गाथा युग-युग से गाती आरही है।

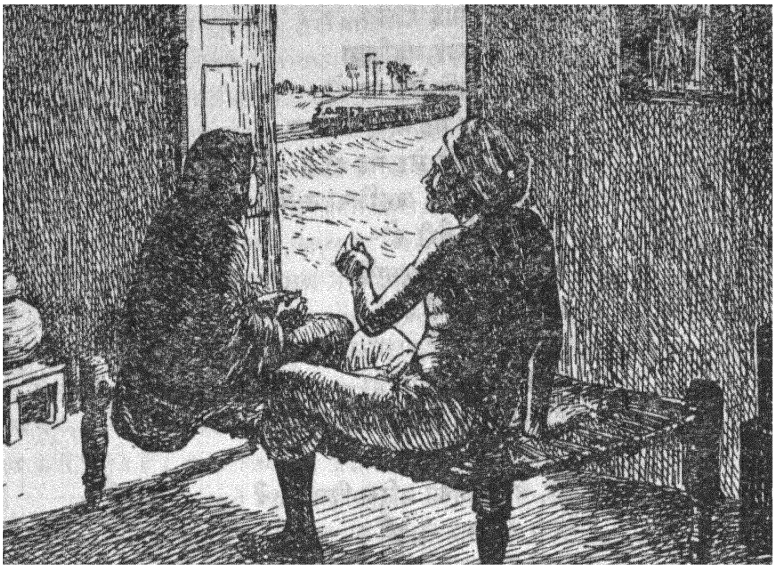

रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी

पूरब से रेल आ गई, पच्छिम से जहाज। गांव की गोरी स्टेशन पर अपने पति को किसी सुदूर नगर के लिए विदा करने आई है। न जाने फिर कब भेंट हो। रेलगाड़ी एक ओर से आई और बस देखते-देखते गाँव के बेटे को लेकर चलती बनी। और गोरी की ओर तो देखो। आँखों का काजल गालों पर ढलक आया। न जाने वह कब तक स्टेशन के बाहर खड़ी रहेगी। रेल के प्रति एक विषैली ईर्ष्या भड़क रही है.....रेल गोरी के पति को ले नहीं गई, बल्कि 'लाद' ले गई—सौत जो हुई! 'सौत' शब्द रेल के प्रति घोर नफ़रत का ज्वलन्त प्रतीक है। फिर गोरी सोचती है कि न रेल बैरी है न जहाज़, असल में बैरी तो पैसा है जो अपनी तलाश में आदमी को देश-देश में भटकने पर मजबूर करता है। न उसने घर के लिए पैसा माँगा होता, न पति बेचारा कहीं बाहर गया होता। मन-ही-मन पति से बातें शुरू कर देती है—मुझे भूख नहीं लगती, न प्यास लगती है। मुझे तो सिर्फ तुम्हारा 'मोह' लगा करता है। मुझे तृप्त करने के लिए न अन्न चाहिए न जल, बस तुम्हारी सूरत नज़र आती रहे.....फिर कहती है—सेर भर गेहूँ पूरे साल भर खाती रहूँगी, थोड़ा-थोड़ा करके। अपने प्रीतम को बाहर न जाने दूँगी, अपनी आँखों के हुज़ूर में रखूँगी। प्रीतम के शब्द उसके कानों में गूँजते हैं—'रेलिया न बैरी, जहजिया न बैरी, उहै पइसवै बैरी हो!' और शायद एक हूक के साथ वह कह उठती है—हाय पैसा बैरी! और गाती है—

पुरुबु से आई रेलिया
पछिउँ से आई जहजिया
पिया के लादि लेइ गइ हो—
रेलिया होइ गइ मोर सवतिया
पिया के लादि लेइ गइ हो !
रेलिया न बैरी, जहजिया न बैरी
उहै पइसवै बैरी हो—
देसवाँ-देसवाँ भरमावै
उहै पइसवै बैरी हो !
भुखिया न लागै, पिअसिया न लागै,
हमके मोहियै लागै हो—
तोहरी देखि के सूरतिया
हमके मोहियै लागै हो !
सेर भर गोहुंआ बरिस दिन खइबै
पिया का जाइ न देबै हो—
रखबै अँखिया के हजूरवाँ
पिया का जाइ न देबै हो !

यही वह गीत है जिसने श्री रामनरेश त्रिपाठी को लोकगीत-संग्रह की ओर प्रेरित किया। वे लिखते हैं—"मैं जौनपुर से प्रयाग आ रहा था। स्टेशन पर कुछ स्त्रियाँ जो संभवतः अहीर या चमार जाति की थीं, कुछ मर्दों को जो कलकत्ते जा रहे थे, पहुँचाने आई थीं.....ट्रेन स्त्रियों को रोती हुई छोड़ कर चल दी। कलकत्ते जाने वाले मर्द संयोग से थर्ड क्लास के उसी डिब्बे में आ बैठे थे जिस में मैं था। उनके साथ दो तीन स्त्रियाँ भी थीं, जो अपने पतियों के साथ या कलकत्ता-प्रवासी पतियों के पास कलकत्ते जा रही थीं।

"युक्त प्रांत में, खासकर देहातों में, स्त्रियाँ मौके-बेमौके बड़ी बुरी तरह रोती हैं। देहाती मेलों में जाकर देखिए तो सैकड़ों स्त्रियाँ एक दूसरे का गला पकड़े हुए रोती मिलेंगी। रोने के उनके स्वर तो भिन्न-भिन्न होते ही हैं, वे रोती-रोती कुछ कहती भी जाती हैं। ध्यान देकर सुनने से उनके रुदन में और कथन में बड़े-बड़े दुःखों का वर्णन, उनकी अन्तर्ज्वालाओं का इतिहास और अनेक मार्मिक पीड़ाओं से पैदा हुआ हाहाकार सुनने को मिलेगा.....

"जब कोई व्यक्ति कमानेके लिए विदेश जाने लगता है, तब भी स्त्रियाँ चिल्ला-चिल्ला कर, अपनी निर्बलता का चित्र खींच-खींच कर और कुटुम्ब के मृत व्यक्तियों की याद दिला-दिला कर रोती हैं..... जिस समय गार्ड सीटी बजाता है, उस समय ट्रेन के जल्दी चले जाने का भय स्त्रियों में विरह-वेदना उत्पन्न कर देता है और वे ज़ोर-ज़ोर से रोने लगती

है। अन्त में ड्राईवर का एक हाथ दोनों पार्टियों को दूर दूर करके उन्हें स्मृतियों के स्वप्नों में छोड़ देता है।.....पहले आवागमन के मार्ग आज कल की तरह सुरक्षित और सुगम नहीं थे। जंगल और नालों में चोरों और ठगों के गरोह डेरा डाले रहते थे। वे यात्रियों का धन ही नहीं, प्राण भी हरण कर लेते थे। उस समय जीविका की तलाश में जो व्यक्ति घर से निकलता था, वह यह सोच कर जाता था कि लौटें या न लौटें। दस-दस, बारह-बारह वर्ष लोग कमाते रहते थे, तब कहीं लौटते थे। रोगों से और ठगों से जो लोग मर जाते थे, उनका उनके घर वालों को पता ही नहीं चलता था। घर लौट आना पुनर्जन्म के समान समझा जाता था। इन्हीं कठिनाइयों के कारण उन दिनों विदेश या परदेश की सीमा बहुत संकुचित थी। दस-बीस कोस के फासले पर भी जो लोग कमाई करने जाते थे, उनको भी लोग कहा करते थे कि परदेश गए है। रेल, तार, सड़कों और सुप्रबन्ध ने अब विदेश और परदेश शब्द यों हिमालय से उत्तर, लंका से दक्षिण, ब्रह्मा से पूर्व और बलोचिस्तान से पश्चिम तक ढकेल दिया है। आजकल लोग ४८ घण्टों मे हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आते जाते हैं। पर स्त्रियो ने अभी तक पुराने विदेश और परदेश को नहीं छोड़ा है.....किसी ने उनको अभी तक बताया नहीं कि समय बहुत आगे खिसक गया है। अब रोने की ज़रूरत नहीं है। वे बेचारी अठारहवीं शताब्दी ही में खड़ी रो रही हैं.....

"परदेशियों की स्त्रियो ने गाना शुरू कर दिया .....एक ही कड़ी मुझे याद है—'रेलिया सवति मोर पिया लइके भागी' रेल की तुलना सौत से होती सुनकर मैं चौंक उठा.....कई सौ वर्ष पहले रहीम ने स्त्रियों की तरफ से एक बरवा कहा था जिसमें सौत की तुलना हंसिनी से की गई ....'पिय सन अस मन मिलयूं, जस पय पानि : हंसिनी भई सवतिया, लइ बिलगानि।' इसमे हंस हंसिनी का विशेष गुण—सो भी कवियों के कथनानुसार, पक्षी विद्या-विशारदों के कथनानुसार नहीं—मिले हुए पय और पानी को अलग कर देने पर लक्ष्य करके विचार बाँधा गया है। हसिनी के इस कल्पित गुण को जानने वाले सहृदय रसिकजन ही इस बरवे को सुनकर सिर हिला सकते हैं। पर रेल तो प्रत्यक्ष सौत का-सा कार्य करती है। वह पति को लेकर भाग जाती है। भागना धर्म दोनो का एक सा है। मुझे गीत रचने वाली के हृदय की सरसता बड़ी मधुर जान पड़ी। बस इसी घटना के बाद से मैं ग्राम-गीतों के संग्रह की ओर आकर्षित हुआ हूँ।"

गांव की गोरी के ये भाव पालकी उठाकर चलने वाले कहारों ने अपने स्वरों पर उठा लिए।

यह उनका 'कहरवा' है। अब तो इसे सभी गा लेते हैं, पर शुरू में कहारों ने ही जैसा कि इसके नाम से ज़ाहिर है, इसे जन्म दिया था।

कुछ कहार पालकी उठाये जा रहे हैं। उनके कन्धों पर घट्ठे पर गये हैं। पेट खाने को मांगता है। घट्ठों की कहाँ तक परवाह की जाय? पैरों के द्रुतवेग से कहरवा के लहरे

छोड़ते वे भागे चले जा रहे हैं। उठाये लिए जा रहे हैं पालकी, और उनका मन चित्रित कर रहा है उसी दुलहिन का हृदय जिसे आज उन्होंने उसके ससुराल में पहुँचाने की ज़िम्मेदारी ले रखी है। उन्होंने ऐसी अनगिनत दुलहिनों को एक गाँव से दूसरे गाँव तक पहुँचाया है। दुलहिन भी पालकी में बैठी यह गीत सुनती है—ख़ास अपना गीत····· 'रेलिया होइ गई मोर सवतिया, पिया के लादि लेइ गइ हो !'·····और फिर वह सोचती है—'रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी, उहै पइसवै बैरी हो !'

पालकी का परदा उठाकर वह क्षितिज की ओर देख लेती है। पालकी चली जा रही है। मायके का गाँव बहुत पीछे रह गया। ससुराल का गाँव अब आया ही चाहता है·····अब तो कहार थक गए होंगे। यह गीत न हो तो कैसे कोई यह भार ढो सके ? यह स्वत: सुन्दर गीत, क्षितिज को छूता हुआ। प्रत्येक गीत में इतनी शक्ति कहां से आयगी ?

जब सन्नाटे को चीरते हुए कहार फिर से यही गीत छेड़ देते हैं, शायद गोरी के लजीले स्वर भी उनके साथ सम्मिलित हो जाते हैं।

नाचता गाता नेपाल

: १ :

हिमाचल की दक्षिणी ढलवानों पर हिम-मण्डित गिरि-शिखिरों के नीचे बसा हुआ नेपाल किसी वयोवृद्ध सन्त के धवल जटा-जूटके नीचे शुभ्र प्रशस्त ललाट-सा दीख पड़ता है। प्रकृति की गोद में बसे हुए नेपाली ग्राम दूर से देखने में किसी कलाकार के द्वारा अंकित चित्रों-से प्रतीत होते हैं।

यहां के जीवन-उत्सव तक नवीन सभ्यता का गर्द-गुबार नहीं पहुँचा। क्योंकि इस जनपद के निवासियों की चिरन्तन सरलता और सहृदयता पुरातन संस्कृति की प्रतीक है।

नेपाल संगीतमय है। वहाँ सभी मुखरित हो उठते हैं। जाड़े में हिमालय की बर्फीली हवाएँ और ग्लेशियर रागकी सृष्टि करते हैं, वसन्त में वृक्षों पर बसने वाले असंख्य पक्षी अपने कलरव से उपत्यकाओं को कूजित करते हैं। वर्षा में चार दिन के अतिथि बादल अपना मेघ मल्हार सुनाने के लिए फेरी लगाया करते हैं। नेपाल के अगणित झरने और जल-प्रपात बारहों महीने, दिन-रात, अविराम गति से अपने कल-कल रव से समूचे प्रान्तर को निनादित करते रहते हैं। इन सबके साथ स्वरमें स्वर मिलाकर नाचता-गाता है नेपाल। नेपाल शब्द का प्रयोग पहले केवल नेपाल की उपत्यका के लिए ही होता था, पर अब यह समस्त देश

को व्यक्त करता है। नेपाल के पश्चिम में काली नदी बहती है, पूर्व में शिकिम तथा बंगाल की सीमाएं हैं, उत्तर में तिब्बत है, और दक्षिण में युक्त-प्रान्त तथा बिहार। यहाँ का क्षेत्रफल ५४,००० वर्ग-मील के क़रीब है और यहाँ की जन-संख्या कोई छप्पन लाख होगी।

नेपाल को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१ तराई

यह भाग सागर-तल से थोड़ा ही ऊँचा है, और नेपाल का दक्षिणी अंचल इस में आ जाता है। अत्यधिक नम और दलदल होने के कारण यहाँ प्रायः मलेरिया का प्रकोप रहता है।

२ उपत्यकाएँ

३ पार्वत्य-प्रदेश

समुद्र-तल से यहाँ की ऊँचाई कोई ४,००० से १०,००० फुट तक है।

४ हिमालय-खण्ड

प्रत्येक ऋतु यहां के जन-साधारण की आत्मीय विभूति बन गई है।

प्रत्येक ऋतु का अपना महत्व स्वीकार किया जाता है। वसन्त में नेपाल के सामाजिक जीवन में नवीन जाग्रति और स्फूर्ति का संचार हो जाता है। गीतों तथा नृत्यों द्वारा लोग वसन्त का स्वागत करते है। उधर वर्षा ऋतु में समस्त नेपाल मेघों के गीत गाता नज़र आता है।

नेपाल हिन्दुत्व प्रधान प्रदेश है। यहां स्वतन्त्र हिन्दू-सम्राट का आधिपत्य है। पर यहाँ अनेक जातियाँ बसती हैं; ब्राह्मण, क्षत्रिय, ठाकुर, नेवार, गुरुंग, मगर, लिम्बू, राई, सुनवार तथा थारु उल्लेखनीय हैं। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा ठाकुरों की मातृभाषा नेपाली है। अन्य जातियों की अपनी-अपनी भाषाएँ हैं।

नेपाली भाषा का मौलिक नाम गोरखाली है। इधर कई वर्षों से यह नेपाली के रूप में लोकप्रिय हो रही है। दार्जिलिंग के नेपाली साहित्य-सम्मेलन ने इसके लिए बहुत आन्दोलन किया है।

गोरखा नामक स्थान नेपाल की राजधानी काठमण्डु से कुछ मील दूर है। सन् १५५६ में वर्तमान नेपाल सम्राट के वीर पूर्वज महाराजा द्रव्यशाह ने 'गोरखा' नामक छोटी-सी रियासत के राजा को जीत कर आज के स्वतन्त्र गोरखा राज्य की नींव रखी थी। तभी से गोरखा-साम्राज्य के साथ-साथ नेपाली भाषा तथा साहित्य का विकास आरम्भ हुआ। अब नेपाली ही नेपाल की राज-भाषा है।

गोरखा-राज्यके स्थापित होने के पूर्व नेपाल के तीनों-के-तीनों नगर—काठमण्डु, पाटन तथा भाटगाँव—तीन पृथक-पृथक किन्तु स्वतन्त्र नेवार रियासतों की राजधानियाँ थे। इन नेवार रियासतों तथा अन्य अनेक छोटी-छोटी पहाड़ी रियासतों पर धीरे-धीरे महाराजा द्रव्यशाह के वीर उत्तराधिकारियों ने विजय प्राप्त की और गोरखा-साम्राज्य को विशाल रूप

दिया। नेवार अब नेपाल की उपत्यका में ही बसे हुए हैं। वे कला प्रेमी हैं। स्थापत्य-कलामें उन्होंने अपने अच्छे दिनों में खासी उन्नति कर ली थी। गृह-शिल्प, कृषि तथा व्यापार उनके प्रमुख कार्य हैं। प्राचीन काल में नेवार जाति साहित्य-प्रेमी रही है। नेवारी भाषा की सर्व-प्रथम पुस्तक चौदहवीं शती में लिखी हुई बताई जाती है। स्टैन कोनो के कथनानुसार ग्यारहवीं शती के पूर्व ही नेवारी भाषा में पुस्तकें लिखी जाने लगी थीं। काठमण्डु के राज्य पुस्तकालय में नेवारी भाषा के अनेक पुरातन हस्त-लिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं। जब से नेवारी राज-भाषा के पद से च्युत हुई, स्वयं नेवारों में भी अपनी भाषा तथा इसके साहित्य के प्रति उदासीनता बढ़ती चली गई है।

नेवार हिन्दू भी हैं और बौद्ध भी। हिन्दू नेवार शिव-मार्गी और बौद्ध नेवार बौद्ध-मार्गी कहलाते हैं। इनमें परस्पर एक दूसरे के प्रति घृणा का भाव बहुत कम रहता है।

नेवारी जीवन में उत्सवों की कुछ भी कमी नहीं। त्यौहार के लिए वे यात्रा शब्द का प्रयोग करते हैं। भैरव-यात्रा, गाय-यात्रा, इन्द्र-यात्रा, छोटी तथा बड़ी मछिन्द्र-यात्रा और रथ-यात्रा—ये इनके विशेष उत्सव हैं। हिन्दुत्व और बौद्धधर्म इन यात्राओं में घुल-मिल गए हैं। यह कहना कठिन है कि किस उत्सव में हिन्दुत्व प्रधान है और किस में बौद्ध-धर्म। गीत और नृत्य इन उत्सवों में विशेष स्थान रखते हैं।

: २ :

नेपाली के अतिरिक्त नेपाल की किसी भी भाषा या उप-भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई। विभिन्न भाषा-भाषी लोग एक दूसरे की बात नहीं समझते। पर नेपाली भाषियों के संसर्ग में अनेक लोग नेपाली सीखते जा रहे हैं। इस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर नेपाली उनकी सम्मिलित भाषा का काम देती है। अनेक स्त्री-पुरुष तो अपनी निजी बोलियों को एकदम तिलांजलि दे रहे हैं और उनके स्थान पर राज-भाषा नेपाली को अपना रहे हैं।

नेपाल को मेलों तथा साप्ताहिक हाट-बाज़ारों का देश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इन मेलों तथा हाट-बाज़ारों के लिए प्रायः दो नदियों के संगम के समीप के स्थान उपयुक्त समझे जाते हैं। इन अवसरों पर दूर-दूर की जनता जुटती है। व्यापार की प्रधानता तो रहती ही है। पर संस्कृति का विनिमय भी चलता है।

गीत और नृत्य इन अवसरों पर नेपाल के सामाजिक आनन्द को प्रस्फुटित कर देते हैं। विभिन्न जातियों के नर-नारी एक दूसरे के गीतों को कण्ठस्थ कर लेते हैं और उनके नृत्य भी सीख लेते हैं। इन नवीन गीतों तथा नृत्यों को सीखकर अपने-अपने ग्राम में लौटने पर लोग इनका प्रदर्शन करने से नहीं चूकते।

गुरुंग मध्य-नेपाल के निवासी हैं, वे प्रायः चरवाहे हैं और अत्यन्त नृत्य-प्रेमी। ग्राम के मुखिया के घर से ही सटी हुई इनकी नृत्यशाला होती है जिसे ये लोग रोढ़ी-घर कहते हैं। फसल पकने के दिनों में रोढ़ी-घर में एक लोक प्रिय 'सोरटी' नृत्य की बहार

रहती है। इस नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत भी 'सोरटी' के नाम से ही विख्यात हैं।

जिस वर्ष फसल अच्छी होती है 'रोढ़ी-घर' के गीतों और नृत्यों पर नया यौवन आ जाता है। नृत्य-शाला का द्वार केवल युवकों और युवतियों के लिए ही खुला रहता है। एक स्वर होकर गाते-गाते तथा ताल के एक सूत्र में बँध कर नाचते-नाचते युवकों और युवतियों को एक दूसरे से परिचित होनेके तथा प्रेम-प्रदर्शन के अवसर प्राप्त होते हैं। सोरटी गीत प्रायः प्रेम, सौंदर्य तथा यौवन-मद के उद्‌गारों से ओतप्रोत होते हैं। इन गीतों में स्त्री-पुरुषों के मनोविज्ञान के चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। गुरुंग भाषा के गीतों के साथ-ही-साथ प्रायः यहाँ नेपाली गीतों का भी चलन है। और गुरुंगा नृत्यों के साथ-साथ नेपाली नृत्य भी लोकप्रिय हो रहे हैं।

लिम्बू पूर्वी नेपाल में बसे हुए हैं। इनके यहाँ दो प्रकारके गीत अधिक प्रचलित हैं—'लय-बरी' और 'हाक-पारा'। नेपाली भाषा-भाषियों से दूर रहने के कारण ये लोग नेपाली गीत नहीं सीख पाते। अतः अपनी निजी भाषा में ही गाते हैं।

लिम्बू युवक-युवतियों में गीतों की प्रतियोगिता भी होती है। इन गीतों की तुलना प्राचीन यूरोप के चरवाहों तथा चरवाहिनों के गीतों से या वहाँ की संगीत-शालाओं के डुएट (दो गाना) गीतों से की जा सकती है। नेपाली भाषा के 'जुवारी गीत' भी इसी प्रकार के होते हैं। लिम्बू युवती एक प्रेम-गान गाती है, जिसके उत्तर में युवक भी गा उठता है। इस प्रकार घंटों तक गीतों का दंगल चलता रहता है। युवक जीत जाय तो वह उस युवती को अपनी वधू बनाने के लिए बाध्य करना अपना अधिकार समझता है। और यदि वह हार जाय तो एक खिलाड़ी की भाँति वह किसी अन्य युवक को उस कन्या से होड़ लेने का अवसर देता है। इस प्रकार जो युवक उस युवती को हरा दे वही उसके साथ विवाह कर लेता है। कितने ही लिम्बू गीतों के साथ-साथ नृत्य का भी चलन है। लिम्बू प्रायः दो प्रकार के होते हैं—'लाँगमा' तथा 'के-लाँगमा'।

नेपाली-भाषा-भाषियों में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनकी उदर-पूर्ति ही गीतों द्वारा होती है। इन्हें यहाँ 'गाइने' कहते हैं। इनकी स्त्रियाँ नहीं गातीं। (मेजर ब्रक तथा कैप्टन नौर्दे द्वारा लिखित 'दी गुर्खाज़' नामक पुस्तक में पृष्ठ ११० पर लेखकों ने भूल से 'गाइने' शब्द के स्थान पर 'गाईनी' छापा है। और इसे ईकारान्त मानकर लिख दिया कि ये स्त्रियाँ हैं। यह ठीक नहीं है।) केवल पुरुष ही स्वयं अपने हाथों से तैयार की हुई सारंगी लिये फेरी लगा-लगाकर गाते हैं। इनकी सारंगी हिन्दुस्तानी सारंगी से भिन्न होती है। 'गाइने' संगीत-सुधा बरसा कर लोक-जीवन के वातावरण को स्निग्धता प्रदान करते हैं। पर खेद है कि उन्हें अछूत समझा जाता है। एक नेपाली लोकोक्ति में उनके महत्व का कुछ आभास देखकर हम खुश हुए बिना नहीं रह सकते—'खानें चावल छैन, लाँउँछो सारंगी की तान्ती।' अर्थात् 'खाने को तो घर में चावल तक नहीं, फिर भी वह अपने पीछे सारंगियों की पंक्ति लिये हुए है।' इससे यह बात अच्छी तरह झलकती है कि नेपाल में वे प्राणी भी जो इतने

गरीब हैं कि इन सारंगी वाले गाइनों को कुछ दे नहीं सकते, उनके गीत सुनने के लिए आकुल रहा करते हैं।

: ३ :

ऋतु और समय-क्रम से नेपाली गीतों के अनेक भेद हैं। बहुत से गीत तो गाने-वालों के धन्धों तथा उनकी जातियों के अनुसार एक दूसरे से पृथक् हैं।

इन गीतों के मुख्य भेद ये हैं—

१ भयाउरे गीत

नेपाली भाषा में 'भयारो' शब्द का अर्थ होता है 'दुबला-पतला'। बीमार और कमजोर व्यक्ति से प्रायः प्रश्न किया जाता है—'किन भयारो भये ओ ?' अर्थात् 'दुबले क्यो हो गए हो ?'

२ सवाई गीत

इनमें कोई-न-कोई कथा रहती है।

३ माछासिरी गीत

ये दुर्गा-पूजा के दिनों में गाये जाते हैं। मां दुर्गा की विजय-यात्रा का इनमें अत्यन्त रोचक चित्रण रहता है।

४ भैलो तथा देउसी गीत

ये वे पद है, जिन्हें गरीब घरों के लड़के-लड़कियाँ दीपावली की खुशी में द्वार-द्वार जाकर मिठाई के लिए याचना करते समय गाते हैं।

५ जुवारी गीत

भयारो गीतों के समान ही ये भी चार-चार पंक्तियोंके होते हैं, और मेलों तथा उत्सवों पर प्रायः प्रश्नोत्तर के रूप में गाये जाते हैं। प्रेमियो और प्रेमिकाओं द्वारा इनकी रूप-रेखा सजीव हो उठती है।

६ संगिनी गीत

ये तीज के दिनों में स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले 'कोरस' गीत हैं। गाँव के मन्दिर में या वट अथवा पीपल के नीचे वे घेरा बनाकर खड़ी होती हैं। बारी-बारी से दो-दो स्त्रियाँ इस घेरे के बीच में गाती तथा नाचती हैं। अन्य स्त्रियां एक स्वर हो घेरे में नाचने वालियों के साथ गाती हैं। संगिनी गीतों में गृह-जीवन के चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। नेपाली स्त्रियों का विश्वास है कि जो स्त्री इन दिनों इस नृत्य मे सम्मिलित न होगी, वह आगामी जन्म में लँगड़ी उत्पन्न होगी।

७ रसिया गीत

इन्हें किसान स्त्री-पुरुष खेतों में धान बोते या रोपते समय लम्बे स्वरों में गाते हैं।

८ वासुन-गीत

इनमें रामायण, महाभारत तथा भागवत् के विभिन्न पात्रों-सम्बन्धी लोक-गाथा रहती है ।

९ रतेली गीत

जिस दिन बरात कन्या के घर की ओर प्रस्थान करती है, उससे अगले दिन वर के घर में आनन्दोत्सव मनाया जाता है । गली-मुहल्ले की स्त्रियाँ वर के घर में रात-रात भर रतेली गाती तथा नाचती हैं । रतेली गीतों में शृंगार-रस का आधिपत्य रहता है ।

१० नानी-फूल्यौने गीत

लोरियाँ और पालने के गीत इनके दो मुख्य विभाग हैं ।

११ बारामासे गीत

इनकी नायिकाएँ वियोगिनें होती हैं । नेपाल के वर्ष-भर बदलते रहने वाले प्राकृतिक चित्रपट पर नायिकाओं के सुख-दुःख के चित्र अंकित किये जाते हैं ।

१२ असारे गीत

ये आषाढ़ मास में गाये जाते हैं । किसानों में ही इनका अधिक चलन है ।

१३ साउने गीत

ये प्रायः सावन में गाये जाते हैं ! इन दिनों माता-पिता अपनी कन्याओं को उनकी ससुरालों से बुला भेजते हैं । इन गीतों की नायिकाएँ दो प्रकार की हैं—एक वे जो ससुराल में हैं और सावन में मैहर जाने के लिए तरस रही हैं । और दूसरी वे जो नैहर आ गई हैं और वर्षा का आनन्द मना रही हैं ।

१४ चैते गीत

इनमें वसन्त का आशा तथा उल्लास भरा संगीत रहता है । ये चैत्र मास मे गाये जाते हैं ।

नेपाली लोकगीतों का रस तो इनकी ध्वनि तथा लय मे ही है । लिपिबद्ध होने पर इनके मौलिक संगीतमय रूपका अनुमान करना अत्यन्त कठिन है । बहुत सा रस तो लिपिबद्ध होने तक उड़ जाता है । रहे-सहे रस का यथेष्ट भाग अनुवाद की मरु-भूमि में सूख जाता है । हिन्दी-वेष धारण करके इन गीतो की रस-धारा एक प्रवासिनी की भाँति साहित्य-जगत् के सम्मुख आ रही है ।

पकी हुई फसल देख कर नेपाली किसान मस्त हो उठता है और वह झूम-झूम कर गाता है—

कती राम्रो मेरो ई पाँगरो गोरु
कती राम्रो मेरो हल
कती राम्रो मेरो उबजानी बारी
राम्रो छ मेहनत को फल

—'कितने सुन्दर हैं मेरे रंग-बिरंगे बैल,
कितना सुन्दर है मेरा हल।
कितने सुन्दर हैं मेरे उपजाऊ खेत,
सुन्दर है यह मेरी मेहनत का फल !'

धरती माता का गुण-गान नेपाली लोकगीतों की विशेषता है—

धरती आमै धरती बावै
येस्बाटा पाँऊछु अन्न
पियार म गर्छु सन्मान गर्छु,
धरती आमै धन्न

—'धरती माता है, धरती पिता है,
इससे मैं अन्न प्राप्त करता हूँ।
मैं इसे प्यार करता हूँ और इसका सम्मान करता हूं,
धरती माता धन्य है।'

किसानों में दुखी प्राणियों की कमी नहीं—

उमर बितायें जोताई माँ मैले
आयें न सुख को दिन
जिव बूढ़ो मेरो मन बूढ़ो मेरो
सुख छैन एकै छिन

—'उमर बिता दी मैंने हल चलाते-चलाते,
सुख का दिन न आया।
मेरा हृदय बूढ़ा हो गया।
मेरे लिए सुख का एक क्षण भी नहीं।'

कुछ गीतों में नेपाल के प्राकृतिक चित्रपट पर मानव-हृदय की सरल अनुभूतियाँ अंकित की गई हैं। भावात्मक दृष्टि से तो ये गीत सुन्दर हैं ही, इन से प्रकृति-निरीक्षण का भी यथेष्ट परिचय मिलता है।

प्रेमी का हृदय एक बार प्रेम का पुजारी बन कर फिर इस पथ से पीछे नहीं हटता। एक गीत में यही भाव व्यक्त किया गया है—

हिमलै चूली तियो पारि बाटो
हिऊँ कैले जामिछ
बगे को पानी ऊड़े को चित्त
कहाँ गई थामिछ

—'हिमालय-शिखर के उस ओर
बर्फ कब जमेगी ?

बहता हुआ जल और उड़ता हुआ हृदय
कहां जाकर थमेगा ?'

प्रेमी की तुलना यहाँ एक पहाड़ी नदी से की गई है, जो नाचती-गाती उछलती-कूदती अविराम गति से बहती है। बर्फ जमने के दिनों में भले ही पहाड़ी नदी की गति कुछ मन्द पड़ जाय, पर वह रुकती बिलकुल नहीं। इस नदी की भांति ही प्रेमी का हृदय उड़ता हुआ चलता है।

कोई बाँझ स्त्री अपनी निराशा का चित्र अङ्कित कर रही है—

मदेस को लहरे पीपल
बैलायो धूपले
न छोरो पाऊँनु. न छोरी पाऊँनु
के गनु रूपले

—'तराई का लहराता हुआ पीपल
धूप में मुरझा गया।
न मेरे पुत्र हुआ न पुत्री,
रूप का क्या गर्व करूं !'

कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका की आँखों पर रीझ रहा है—

बगीचा भरि फल र फूल
छेऊँ छेऊँ माँ करेला
आफु को आँखा जुनकेरी जस्तो
झमकौने परेला

—'बगीचा फल-फूल से भरपूर है
पास-पास करेलों की लताएँ हैं,
जुगनुओं की-सी तुम्हारी आँखें,
पलकों के भीतर से झलक दिखाती हैं।'

पति परदेसमें है। ऐसे समय किसीकी बाँसुरीके स्वर भला क्या प्रेरणा दे सकते हैं—

हिमालै चूलो के एती राम्रो
सरप को काँचुली
यो पापी मन विरह चाल्यो
न बजायो बाँसुरी

—'हिमालय की चोटी कितनी सुन्दर है
सर्प की केंचुली के समान।
यह पापी मन विरही हो उठा,
बाँसुरी न बजाओ।'

विद्योगिनी अपने मन की उत्कंठा को गुप्त तो नहीं रख सकती—

स्वर्ग नै भरि नौ लाख तारा
म गन्न सगदी न
पेट को कुरा मुखै माँ आउछ
म भन्न सगदी न

—'आकाश पर नौ लाख तारे भरे हैं,
मैं उन्हें गिन नहीं सकती।
पेट की बात मुख पर आती है,
मैं उसे कह नहीं सकती।'

नेपाल के डाकखाने के टिकटों पर भी लिखा रहता है—'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'—जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी प्रिय है।' नाचता गाता नेपाल युग-युगान्तर से सुनहरे भू-स्वर्ग के सुनहरे चूल्हों, सुनहरी नदियों, सुनहरे पक्षियों और सुनहरे पात्रों पर गर्व करता आया है—

सुन जस्तो नेपाल के राम्रो देख छ
स्वर्ग छ संसार माँ
सुन जस्तो मायालो जुन-जस्तो देख छ
माया को संसार माँ

—'स्वर्ग जैसा नेपाल कितना सुन्दर दिखाई देता है,
यह संसार में स्वर्ग है।
स्वर्ण जैसे प्रियतम स्वर्ग जैसे दिखाई देते हैं,
प्रेम के संसार में।'

तीनै र सहर नेपालै ज्यान माँ
सुन को मकल
पगरी माथी दुई थूँगा फूल
सुन बैंस नकल

—'प्रिय नेपाल में तीन ही शहर हैं,
वहां स्वर्ण के चूल्हे हैं।
तुम्हारी पगड़ी पर फूलों का जोड़ा है,
यह तुम्हारे स्वर्ण-यौवन का प्रतिरूप है।'

नेपाली स्त्रियां अपने गीतों में जन्म-भूमि की स्वर्ण-नदियों का विशेष रूप से बखान करती हैं। पर जब सिन्दूर की डिबिया भूल से घर पर ही छूट जाय तो उल्लास भी मलिन हो उठता है—

नेपालै ज्यान को सुनाको धारा
म कपाल नोहाऊँ दैछु
कपलै नुहौऊने डूंगा मां बसे
म कपाल सुकाऊं दैछु
सिरको सिन्धुर बिरसेर आयें
यो मनै अन्धैर
घर जाऊं भने कसैरी चेली
सिर को सिन्धुर बिरसेर आयें
माइत जाऊँ भने बियोसी चेली
यो भनछे हाम्री आमैले

—'प्रिय नेपाल की स्वर्ण-धारा है,
मैं सिर के केश धो रही हूँ।
केश धोकर चट्टान पर आ बैठी,
मैं केश सुखा रही हूं।
सिर का सिन्दूर भूल आई,
यही तो अन्धेर है।
ससुराल जाना चाहूँ तो कैसे जाऊँ ?
सिर का सिन्दूर भूल आई।
नैहर जाना चाहूँ तो मां कहेगी—
यह आती है मेरी लापरवाह बिटिया !'

एक नेपाली गीत में सास की झिड़कियों से उकताई हुई वधू पास बैठी चिड़िया से प्रार्थना करती है कि वह उड़कर उसके नैहर जाय और उसके माता-पिता से उसकी कष्ट-कथा कह सुनाये। वह स्पष्ट शब्दों में कह देती है कि भाई पूछें तो उनसे यही कहे कि उनकी बहन को कुछ भी कष्ट नहीं—

कठै चरी चाँचरी, कठै सुनको चाँचरी
कठै आमैको माया, कठै म कती गरुंला
कठै चरी चाँचरी, कठै सुनको चाँचरी
कठै बाबे को माया, कठै म कती गरुंला
कठै के राम्रो भनेको, कठै सुनको चाँचरी
कठै के राम्रो ऊड़ेको, कठै सुनको चाँचरी
कठै ऊड़ेर ऊड़ी जाऊं, कठै सुनको चाँचरी
कठै समाचार लागीदे, कठै सुनको चाँचरी
कठै आमैले सोदिन भने, कठै सुनको चाँचरी

कठै मरिछ भनि दिनु, कठै सुनको चाँचरी
कठै दाज्यु ले सोधे भने, कठै सुनको चाँचरी
कठै सन्चैछ भनि दिनु, कठै सुनको चाँचरी
कठै बावै ले सोदिन भने, कठै सुनको चाँचरी
कठै मरिछ भनि दिनु, कठै सुनको चाँचरी
कठै दीदीले सोधिन भने, कठै सुनको चाँचरी
कठै सन्चैछ भनि दिनु, कठै सुनको चाँचरी
कठै के राम्रो भनेको. कठै सुनको चाँचरी
कठै के राम्रो ऊड़ेको, कठै सुनको चाँचरी

—'कितना, ओ चिड़िया, ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना है मां का प्रेम, मैं कितना बखान करूँ ?
कितना, ओ चिड़िया, ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना है पिता का प्रेम, मैं कितना बखान करूँ ?
कितना सुन्दर है तेरा गान—हाँ कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितनी सुन्दर है तेरी उड़ान—हाँ कितनी—ओ स्वर्ण चिड़िया,
कितना—उड़ते-उड़ते जाओ—हाँ कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना—मेरा समाचार सुना देना—हां कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना—मेरी माँ पूछे—हां कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना—वह मर रही है, कह दीजियो—हां कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया
कितना—बड़ा भाई पूछे तो कह देना हां कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना—सुख है उसे, कह दीजियो—हां कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना—पिता पूछे तो कह दीजियो—हां कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना—वह मर रही है, कह दीजियो—हां कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना—बहिन पूछे तो कह दीजिओ—हां कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना—सुख है उसे, कह दीजियो—हां कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितना सुन्दर है तेरा गान—हां कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
कितनी सुन्दर है तेरी उड़ान—हां कितनी ओ स्वर्ण-चिड़िया !'

एक गीत में कोई स्त्री अपने दामाद का आतिथ्य कर रही है—

सुनको थाली मरसी को भात
खाँदै खाँदै न
के राम्रो बियोला घरै माँ आऊंदा
बोलाउँदा बोल दैन

—'स्वर्ण की थाली है, उसमें मरसी चावल का भात है,
वह खाता ही नहीं।
कितना सुन्दर दूल्हा घर में आता है,
वह बुलाने से बोलता ही नहीं।'

कबूतर के प्रति नेपाली कन्या का अनुराग अनेक गीतों की रचना में सहायक हुआ है। विवाह के पश्चात् नैहर से विदा लेते समय पिता से एक जोड़ा कबूतरों की याचना करने वाली कन्या का गीत नेपाली लोक प्रतिभा की आवाज़ है—

हाम्रा बाबाकी धुरीर माथी नवै जोर परेवा
मलाई र पनि देउ है बाबा एकै जोर परेवा
गाईको दाइजो दिउला है छोरी पुग्दैन परेवा
गाईको दाइजो के गरनो मलाई कर्म माँ मेरो छैन परेवा
हाती को दाइजो दिउला है छोरी पुग्दैन परेवा
हाती को दाइजो के गरनो मलाई कर्म माँ मेरो छैन परेवा
न रौ, न रौ पवित्र चोली, दिऊंला है दाइजो परेवा
तिनैर परेवा घूरे को सुनदा म धन्दा तुरूंला

—'हमारे पिता के घर की छत पर नौ जोड़े कबूतर बैठे हैं
मेरे लिए दे दो, पिता जी, एक जोड़ा कबूतर।
'मैं गाय का दहेज दूंगा, बिटिया मैं कबूतर देने में असमर्थ हूँ।'
'गाय का दहेज लेकर मैं क्या करूंगी मेरे भाग्य में कबूतर नहीं।'
'मैं हाथी का दहेज दूंगा, बिटिया मैं कबूतर देने में असमर्थ हूं।'
'हाथी का दहेज लेकर मैं क्या करूंगी, मेरे भाग्य में कबूतर नहीं।'
'न रो, न रो, पवित्र बिटिया, मैं तुझे कबूतरों का दहेज़ ही दे दूंगा।'
'इन कबूतरों की घुटर-घूँ सुनते मैं घर का कार्य किया करूंगी।'

अनेक गीतों में बहुओं के प्रति निर्दयी सासों का अत्याचार चित्रित किया गया है —

सासु भनछे बुहारी, बुहारी भनछे जीऊ
सिंगमांग माँ राखेको कसले खायो घीऊ
देखनु न सुननु, मैले कहाँ खायें
ओठ तेरा पिछा छन थाह मैले पायें
ढोका जती बन्द गछुं, भयाल जती खोलछु
घीऊ चोरने बुहारी का ओठ तेरो पोलछु

—'सास कहती है—बहू ! बहू कहती है—जी !
'काठ की हाँडी में रखा हुआ घी किसने खाया ?'

'न देखा न सुना, मैंने कहाँ खाया।'
तेरे होंठ चिकने हैं, मैंने थाह पा ली।
जितने द्वार हैं बन्द किये देती हूँ, जितनी खिड़कियां हैं खोले देती हूं।
तू घी-चोर बहू है, तेरे होंठों को दाग़ दूँगी।'
सास के अत्याचारों का कहीं अन्त नज़र नहीं आता—

बिरानो देस माँ म मरि जाऊंला
रुई दिने कोई छैन

—'मैं इस परदेस में मर जाऊँगी,
मेरे लिए आँसू बहाने वाला कोई नहीं।'

नारी को जन्म हारे को कर्म
अरका को सुसाले

—'नारी का जन्म एक पराजित कर्म है,
सदैव दूसरों की परतन्त्रता!'

दीपावली का त्यौहार आया, सभी नवीन वस्त्रों के लिए उत्सुक हो उठे। सास बहू से पूछती है—क्या तुम्हें भी कोई नया वस्त्र चाहिए? पर यह समझ कर कि उस उपहार की तह में तनिक भी स्नेह नहीं, केवल रस्म पूरी की जा रही है, बहू कह उठती है—

चोलिया मलाई चाहिंदै न बजै
तिमरी पियारी कठै तिमरी पियारी
पटुको मलाई चाहिंदै न मलाई
तिमरी पियारी कठै तिमरी पियारी

—'मुझे चोली नहीं चाहिए, सास जी!
तुम्हारे प्यार की कामना है, तुम्हारे प्यार की कामना।
मुझे पटुका नहीं चाहिए, सास जी!
तुम्हारे प्यार की कामना है, तुम्हारे प्यार की कामना।'

वधू रूपवती है। और ननद ईर्षालु। जब देखो तभी ननद को शरारत सूझती है। बधू सिन्दूर से शृंगार करने लगी तो उसे दर्पण न मिला। समझ गई कि ननद की शरारतानी है। एक गीत में कुछ-कुछ इसी की चर्चा की गई है—

सिन्दुर टिपी लाऊँदा हुनी नानी
सानी मेरी नानी
ऐने हेरनु पाईना मैले
सानी मेरी नानी।

—'मैं सिन्दूर-बिन्दी लगाने चली थी, ओ ननद!
ओ स्नेहमयी ननद!

दर्पण देखने से कहीं नहीं मिला,
ओ स्नेहमयी ननद !'

भारत की फौज में भी गोरखा सैनिक यथेष्ट संख्या में हैं। भारत से लेकर यूरोप तक के अनेक रण-क्षेत्रों में वे अपनी वीरता के जौहर दिखा चुके हैं। सैनिक का चित्र नेपाली लोकगीत में बार-बार उभरता दिखाई देता है। वियोग का दुःख बहुत बुरा होता है, इसीलिए सैनिक की पत्नी उदास स्वरों में गा उठती है—

सिपाई को जूनी पल भरी छैन
मरनु पड़छ रणै माँ

—'सिपाही का जीवन पल भर का भी नहीं,
उसे रणभूमि में मरना पड़ता है।'

एक गीत में किसी सैनिक की बहिन और उसकी भावज का वार्तालाप पिरोया गया है—

सिर को सिन्दुर पैरे र भाऊजु
हाम्रै दाजु आई र पुगे
नेपालै ज्यान माँ
तेती को झजलको के मानछे नानी
कैले र आऊंथे तिमरा दाजु
रणै माँ परेका

—'सिर का सिन्दूर लगा ले भावज !
मेरा बड़ा भाई लौट आया
प्रिय नेपाल में।'
'उसके लिए तू क्यों उतावली हो रही है, ननद।
तेरा बड़ा भाई कहां से आ जायगा ?
वह तो रणभूमि को जा चुका है।'

एक वीर सिपाही बाघ का शिकार करने निकला है—

बाघै को शिकारी तिमि को हौ, तिमि को हौ
कस्ले दियोनी राम्रो जवानी कस्ले दियो यो रूप
बिर बावा को छोरा म बाघै को शिकारी
देवताले दियो जवानी देवताइले दिये नी रुप
बिर बावा को छोरा ले मारी र दियोनी बाघ
चेहरै माँ उस्को झलकन्छ भादुरी

—'ओ बाघों के शिकारी, तुम कौन हो, तुम कौन हो ?
किसने दिया है सुन्दर यौवन, किसने दिया यह रूप ?'

'मैं वीर पिता का पुत्र हूं, मैं बाघों का शिकारी हूँ,
देवता ने दिया है यौवन, देवता ने ही दिया है यह रूप।
किस पिता के पुत्र बाघ को मार गिराया ?'
उसके मुख पर वीरता झलक रही है।'
वीर के प्रति नेपाली कन्या की सदैव यही भावना रही है।

स्त्री का पूर्ण विकसित रूप उसके मातृत्व में है। बिबली रानी का गीत इसी का परिचायक है—

नौ महिना देखी दस महिना पुग्यो,
दसैं महिना पुगि र ग्यो बिबली राणी को
दस महिना पुगी कष्टै र लाग्यो
फुल जस्तो छोरो जन्मै र भयो बिबली राणी को
यो बालक कस्तो हेरी दियो जैसी
बालक को लच्छिन रहे छ कस्तो बिबली राणी को
थालै र भरि दिऊ मूगा मोती
जुन जस्तो छोरो भये छ जन्म बिबली राणी को
मूगा र मोती क्या हौ हैं जैसी
लेउ आधा राज्य अजै र देखी बिबली राणी को
लियेर राजपाट के गर्नु मैले
राजैं भैं सुखी छु म त राजमाँ बिबली राणी को

—'नौ महीने देखे, दसवां महीना आ गया
बिबली रानी का दसवाँ महीना आ गया।
दसवां महीना आते ही कष्ट आरम्भ हुआ,
बिबली रानी ने फूल जैसे शिशु को जन्म दिया।
'यह बालक कैसा है यह देख दो, ज्योतिषी जी ?
बिबली रानी के बालक के कैसे लक्षण है ?'
'मुझे मूँगों और मोतियों से भरा हुआ थाल दो,
बिबली रानी ने चन्द्रमा सरीखे बालक को जन्म दिया है।'
'मूंगों और मोतियों का मूल्य ही क्या है ज्योतिषी जी!
आज से तुम बिबली रानी का आधा राज्य ले लो।'
'मैं राजपाट लेकर क्या करूंगा ?
बिबली रानी के राज्य में मै राजा के समान सुखी हूं।'

ज्योतिषी का चरित्र-चित्रण और भी अनेक स्थानों पर हुआ है। बिबली रानी

कौन थी ? यह ज्योतिषी कौन था ? नेपाली लोकवार्ता के विद्यार्थी के होंठों पर सदैव ये प्रश्न आते रहेंगे।

अब अन्त में एक देउसी गीत लीजिए जिसे ग़रीब बालकों की टोलियां दीपमाला के दिनों में मिठाई की याचना करते हुए द्वार-द्वार पर गाती फिरती हैं—

येसै घरको माता री ले
ढुंगा छूदा द्रव्यै हउन
माटो छूदा अन्नै हउन
पातो छूंदा पीताम्बर हउन
पानी छूंदा तेलै हउन
येसै घर माँ लछमी ले
सदा सर्वदा बासै गरूँ
येसै घरको लाला बाला, बूढ़ा-बूढ़ी
केरा जस्तो गाँगी रहुन
दूबो जस्तो मौली रहुन
बर पीपल जस्तो तपी रहुन
मदेलै को लत्ता कपड़ा घरै भरुन
भोट को नून, लसा को सून भंडारै भरुन
येसै घरको दुखनु पीरनु
गङ्गाजी ले बगाई लगुन
ऊँभो हिमालै चूली बतासै ले उड़ाई लगुन
दिये को आसीस लागी जाउन
देउसे भाई आसीस दियेर घरै जाउन

—'इस घर की माता
जिस कंकर को छू दे वह द्रव्य बन जाय,
मिट्टी को छू दे तो वह अन्न बन जाय,
पत्तों को छू दे तो वे पीताम्बर बन जायं,
पानी को छू दे तो वह तेल बन जाय।
इस घर में लक्ष्मी
सदैव निवास करे।
इस घर के बालक और बालिकाएं, वृद्ध, स्त्री, पुरुष
केलो की भांति गुच्छों मे फूलें फलें,
दूब की भांति खूब फैलें
बड़ और पीपल की भांति तपस्वी बने रहें।

मैदानी प्रदेश के वस्त्रों से घर भर जाय।
भोट के नमक और लहासा के स्वर्ण से भण्डार भरे रहें।
इस घर के समस्त दुःख
गंगा बहा कर ले जाय।
ऊपर हिमालय के शिखरों के पार हवा उन्हें उड़ा ले जाय।
दी हुई आशीष पूर्ण हो जाय।
देउसी गान के साथियो! आशीष देकर हम अपने-अपने घर को लौट चलें।'

इस गीत में प्रकृति-निरीक्षण की झलक तो है ही, साथ ही यह भी पता चलता है कि पुराने ज़माने में निचले मैदानी प्रदेशों से नेपाल में वस्त्र जाया करते थे, और नमक तथा सोना वहां तिब्बत से आता होगा। जब नेपाली हृदय गाता है कि हवाएँ नेपाल के कष्टों को ऊपर—हिमालय के शिखरों से भी ऊपर—उड़ा ले जायँ, तो वह अवश्य ही जानता है कि यदि किसी प्रकार यह सम्भव हो जाय, तो तिब्बत के लोग इन्हीं कष्टों से दुःखी होंगे। नेपाल को पिछले ज़माने में तिब्बत से कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं, और उन्हीं के कारण नेपाली हृदय में तिब्बत वालों के प्रति कुछ-कुछ उपेक्षा के भाव बाकी हैं, जो कभी-कभी बाहर आ जाते हैं।

नेपाली गीतों मे नेपाल की संस्कृति अपनी वास्तविक छाया तथा प्रकाश के साथ चित्रित हुई है। इन गीतों के पात्र चलते-फिरते साँस लेते मनुष्य हैं। वे हमारी भाँति ही जीवन के उतार-चढ़ाव में उलझे हैं। पर उन स्थलों पर जहाँ उनकी मुसकान अश्रुओं का स्पर्श करती है, जहाँ उनके सुख-दुःख गले मिलते हैं, यहाँ उनकी आशा और निराशा का संगम है, हम उन्हें झट पहचान लेते हैं, जैसे हम उनसे अनेक बार मिल चुके हों।

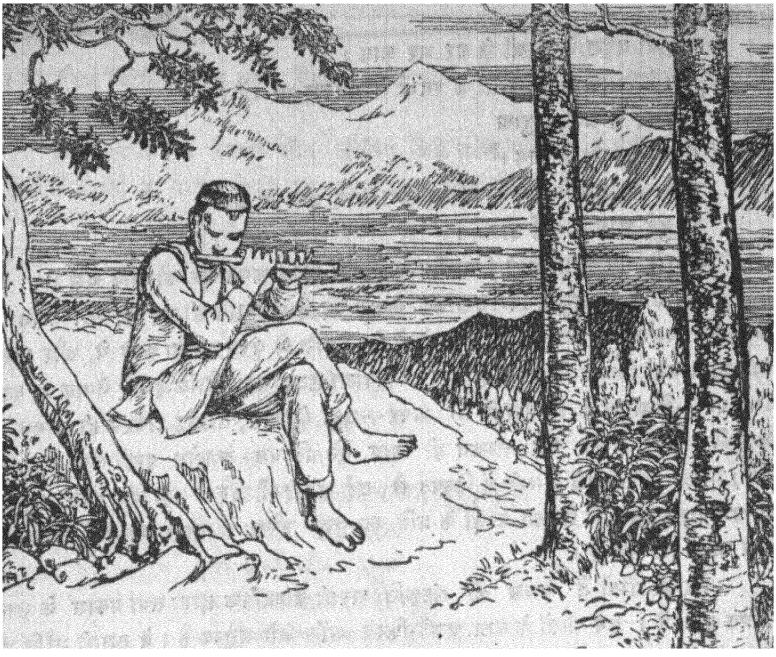

गढ़वाल का चित्र

: १ :

गढ़वाल सुन्दर है, सरस है और सजीव है। सुहावने खेतोंकी सीढ़ियों-जैसी क्यारियाँ दर्शकों का मन मोह लेती हैं। कहीं ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ हैं, कहीं ऊपर-नीचे जाती हुई चक्करदार घाटियाँ, कहीं झरनों और चश्मों का अविराम संगीत, कहीं रंग-बिरंगे पक्षियों का मधुर कलरव—सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के अमर चिह्न।

गढ़वाल में अखरोट के वृक्ष बहुत होते हैं। यहाँ के जीवन पर अखरोट का बहुत प्रभाव पड़ा है। क्योंकि गढ़वालियों के शरीर अखरोट के छिलके-जैसे सख्त हैं, और हृदय अखरोट की गिरी-जैसे नरम। मधु का तो गढ़वाल घर ही है। गढ़वालियों के हृदय को कदाचित् मधु ने ही इतना मधुर बनाया है। 'चूलू' इस प्रदेश का एक विशेष जंगली फल है। गढ़वाली जनता 'चूलू' की खटमिट्ठी चटनी पर बहुत मुग्ध है; उसका सुख-दुःखमय जीवन 'चूलू' की चटनी का-सा खटमिट्ठा है। 'काफल' यहाँ का एक और जंगली फल है—देखने में लाल, स्वाद में मीठा। गढ़वाली माता अपने शिशु में प्रायः 'काफल' की भावना किया

करती है। कितनी ही लोरियों में वह नन्हें-नन्हें शिशु की पीठ पर थपकियाँ देती हुई, या उसको झूले झुलाती हुई, गाती है—'काफल-सी बच्चा सेजालो, सेजालो।' अर्थात्—'सो जायगा, मेरा काफल का-सा शिशु, अभी सो जायगा।' 'कप्फू' इस प्रदेश का एक विशेष पक्षी है, जो अपनी 'कप् फू' 'कप्-फू' की ध्वनि से कुछ-कुछ करुणा का वातावरण उत्पन्न कर देता है। 'हिलाँस' यहाँ का एक और पक्षी है, जिसकी चोंच एक दम लाल और पंख मरकत मणि के-से हरे रंग के होते हैं। गढ़वाली जीवन में 'हिलाँस' के कलरव की मधुरिमा का सम्मिश्रण हुआ है। 'भावर' परगने में 'बोसगढ़' तथा 'हाथीकुंड' के बीच के जंगलों में शेर और चीते बहुत मिलते हैं। मुक़ाबला पड़ने पर इन्हें आन की आन में ज़मीन पर मार गिराना गढ़वाली किसान के लिए बाएँ हाथ का खेल है। 'गढ़वाल-गैज़ेटियर' के सम्पादक के कथनानुसार "गढ़वाल के निवासी स्वतन्त्र प्रकृति के स्वाभिमानी प्राणी होते हैं।···वे साहसी होते हैं और जन्मसिद्ध सिपाही न होते हुए भी उनमें अनेक वीरोचित गुण विद्यमान हैं।"

गढ़वाल ग्राम-प्रधान जनपद है; नगर बहुत कम हैं—उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। गढ़वाली जनता हमें मानव-सभ्यता के उस बाल्य काल की याद दिलाती है।

हिमालय के चित्रपट पर यहाँ के ग्राम दूर से देखने में अत्यन्त चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं, जैसे वे किसी कुशल चित्रकार की तूलिका द्वारा अंकित चित्र हों।

: २ :

गढ़वाली लोकगीत गढ़वाली जीवन की एक सूत्रता में बंधे हुए हैं। इन्हें हम अनेक विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

१ मांगले—

ये पुरातन हैं, और प्रायः पुत्र-जन्म, विवाह आदि शुभ अवसरों पर गाये जाते हैं। कल्याण-कामना तथा आशीर्वाद-प्राप्ति के उद्गारों द्वारा इनका निर्माण हुआ है। इन्हें केवल स्त्रियाँ गाती हैं।

२ लोरियां—

इन में ममता और वात्सल्य रस की पुट रहती है।

३ झुमैलो—

प्रेम तथा विरह के भावों से ओत-प्रोत ये गीत यहाँ के दैनिक जीवन में पग-पग पर गाये जाते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही इन्हें गाते हैं।

४ वसन्ती—

शृंगार रस-प्रधान ये गीत वसन्त ऋतु में गाये जाते हैं। नृत्य-गीतों के रूप में इन का प्रयोग युग-युगान्तर से होता आया है।

५ पंवाड़े—

वीर-गाथाओं से परिपूर्ण ये गीत गढ़वाली जीवन के विशेष अंग हैं। 'बादी' लोग

इन्हें गाते हुए घूमते हैं, और इस जनपद के ये ग्रामीण भाट का बखान करते कभी नहीं ऊबते।

६ विरदावलियाँ—

गढ़वाल के प्राचीन इतिहास पर ये गीत बहुत प्रकाश डालते हैं।

७ जागर—

रतजगों में गाये जाने वाले ये गीत ग्रामीण देवी-देवताओं की स्तुति पर केन्द्रित हैं।

८ बाजूबन्द—

ये केवल दो-दो पंक्तियों के ही होते हैं। पहली पंक्ति केवल तुक मिलाने के लिए प्रयोग मे लाई जाती है। पर कभी-कभी पहली अत्यन्त सार्थक हो जाती है, और गीत की अन्य दोनों पंक्तियों को और भी उभार देती है।

९ चौंफला—

शृंगार तथा हास्यरस प्रधान ये गीत मिलन के सजीव चित्र हैं। स्त्रियाँ इन्हें गाती हुई विशेष रूप से नाचती भी हैं।

१० चौमासा—

ये वर्षा ऋतु के गीत हैं।

११ बारामासी—

वर्ष के बारह महीनों के वर्णन के साथ-साथ विरहिनियाँ अपने परदेसी पतियों की याद मे आँसू गिरा-गिरा कर गाती हैं।

१२ पट—

'पट' दोहे का पर्यायवाची है। कठिन-से-कठिन मेहनत का काम करते हुए स्वर में स्वर मिला कर पट गाने की प्रथा बहुत पुरातन हैं। इनकी कोई निश्चित ध्वनि नहीं है।

कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनमें किसी नायक या नायिका की कथा रहती है। सदेई का गीत इस प्रकार के गीतों का एक उज्ज्वल उदाहरण है। न-जाने सदेई कौन थी, किस ग्राम की रहने वाली थी। गढ़वाली जनता सदेई की जीवन-कथा गाते घंटो झूमा करती है। युवतियाँ इसे बहुत शौक से गाती हैं—

ऊंचि डॉड्यू तुम नीसि जावा
घणी कुलायो तुम छांटि होवा
मैकू लगी छ खुद मैतुड़ा की
बाबाजी को देखण देस देवा
मैत की मेरी तु त पौण प्यारी
सुणौ तु रैबार त मा को मेरी

गाड़ू गदन्यू व हिलाँस कप्फू
मैत को मेरा तुम गीत गावा

—'हे ऊंची पहाड़ियो ! तुम नीची हो जाओ ।
ओ चीड़ के घने वृक्षो ! तुम सामने से छँट जाओ ।
मुझे मायके की याद सताती है,
मुझे पिताजी का देश देखने दो ।
ओ मेरे मायके की हवा !
मेरी माँ का सन्देश सुना ।
ओ नदी नालो, ओहिलांस पक्षी, औ कप्फू !
तुम सब मिलकर मेरे मायके का गीत गाओ ।'

सन् १९२१ में पौड़ी-निवासी श्री तारादत्त गैरोला ने 'सदेई का गीत' प्रकाशित किया था जिसकी मूल प्रेरणा उन्हें गढ़वाली लोकगीत से ही प्राप्त हुई थी । अपनी पुस्तक की भूमिका में गैरोला जी ने गढ़वाली भाषा में लिखा था—

" · यद्यपि मै कवि नी छुऊं, और न आज तक कभी मैन कविता लेखी, तथापि मै कू गढ़वाली गीत, भड़वाली सुणन को बचपन से ही शौक छ, और या अभिलाषा रये कि मै यूं अत्यन्त मनोहर गीत को जीर्णोद्धार करू । मैन कुछ कालसे यो काम करनो आरम्भ करे । किन्तु खेद छ अवकाश नी मिलण से पूरो संग्रह नी करि सक्यो । कुछ भड़वाली 'गढ़वाली' मा प्रकाशित करेन । आज मै गढ़वाली गीत पाठक की भेंट करदू । यो मेरो कविता लिखण को प्रथम समय छ। मैं कू भय छ कि ई कविता मां सत कविजन कई दोष निकाललां । किन्तु मेरो अभिप्राय येई 'सदेई' का गीत को संशोधन करीक तथा नयां ढंग से लिखण को यो छ कि अन्य सत्कवियों को ध्यान येई स्वदेशी अमूल्य भंडार की ओर आकर्षित होव ।

"यो गीत हमारा देश का 'औजी' चैत का महिना, जब वो अपणी 'दिसाओं' का घर मागण जांदाण, गांदान । मैं नभी यो कई बार सुणे । किन्तु पूरो गीत बहुत कम औजी जाणदान, बहुत कुछ अपभ्रंश करीक गांदान । मैन द्वी वर्ष होयेन, यो गीत सुणे छयो वे मां बहुत कुछ परिवर्तन करनू पड़े...।"

सदेई के गीत की जो पंक्तियां ऊपर उद्धृत की जा चुकी हैं, लोकगीत की वस्तुए हैं । गैरोला जी ने अपनी पुस्तक में इन्हे अक्षरशः प्रस्तुत किया है । और भी कहीं-कहीं मूल लोकगीत के शब्द हू-ब-हू उठाकर प्रयोग में लाए गये है । चैत्र मास में गढ़वाल में घर-घर भाई अपनी बहिन से मिलने जाते हैं ताकि उसे मायके में लिवा ले आयें। सदेई का गीत इस पृष्ठभूमि में रंग भरने मे समर्थ हुआ है । सदेई का भाई सदेऊ अपनी बहिन से मिलने के लिए चल पड़ता है । उसे मां ने कभी नहीं बताया था कि उसकी कोई बहिन भी है । किस प्रकार सदेऊ सदेईके ससुराल तक पहुँचता है,यही सदेईके गीतकी वास्तविक रूपरेखा है ।

चार पहाड़ों के पार ब्याही जाने वाली कन्या का गीत गढ़वाली संस्कृति पर विशेष प्रकाश डालता है—

जा भाग्यानी तू मैत न्है जा
मेरो रैबार बई मूं ली जा
इनु बोल्यान तुम बई मूं मेरी
खुद लगी छ बल बई तेरी
बाबा को बोल्यान तुमन भलों करे
रुपयों खैक मेरो बुरो करे
बाबा न दिने चौ डाण्डों पोर
भायों न करे रुपयों जोर
भौजी क बोल्यान मैं जागी रौ लो
यूं की हालात तबो लौलो
ये गौं छ पाणी दूरो
मऊ पूस क छ जाड़ो बूरो

—'जा भाग्यशालिनी, तू पीहर को चली जा,
मेरा सन्देश मां के पास ले जा।
ऐसे कहना : 'तुम मेरी माँ हो,
तुम्हें मिलने की बहुत भूख लगी है मां!
पिता से कहना : तुमने अच्छा किया,
रुपये खाकर तुमने मेरा बुरा कर डाला।'
पिता ने मुझे चार पहाड़ों के पार दे दिया
भाईयों ने भी रुपया लेने पर जोर दिया।
भाई जी से कहना : 'मैं बाट जोहूँगी
यहां की हालत तभी सुन लेना।'
इस गांव का पानी बहुत दूर है, मां!
माघ पूस का जाड़ा भी बहुत बुरा है।'

गढ़वाली लोकगीतों में, जहाँ ससुराल को जाती हुई कन्या के हृदय में करुणा की अभिव्यक्ति दिखाई गई है, काला पहाड़ पृष्ठभूमि में एकाएक ऊंचा होने लगता है—

काला डांडा पीछ बाबा जी
काली च कुएड़ी
बाबाजी, एकुली मैं लगड़ी च डऽऽऽ
एकुली एकुली मैं कनु कैकी जौलो

—'काले पहाड़ के पीछे, पिताजी !
काला कुहरा छा रहा है।
पिताजी, मुझे अकेले में डर लगता है।
अकेले-अकेले मैं ससुराल कैसे जाऊँगी ?'

गढ़वाली लोकवार्त्ता में 'काले पहाड़' की अनेक बार चर्चा की गई है। एक महिला ने ईरान के एक पहाड़ की रेखा अंकित करते हुए एक स्थान पर लिखा है—"ऐसा होता है पहाड़ का रूप। पहले दूर से देखने से स्वप्न सरीखा। फिर पास से चौंका देने वाला। फिर एकदम गुम, जैसे-जैसे हम इसके बाहरी भागों और घाटियों के जाल में उलझते जाते हैं। पर एकाएक यह फिर दिखाई दे जाता है, हालांकि हमें इसका ध्यान भी नहीं होता, जैसे किसी प्रिय चेहरे पर तेज़ रोशनी दौड़ जाय जिसे देखने के लिए प्रथा ने हमारी आंखें बन्द कर रखी हों। आदमी ही की तरह पहाड़ भी अनेक अंगों से बना हुआ जीव है। अनेक बार देख लेने पर, अनेक स्थानों से इसका स्नेहमय अध्ययन कर चुकने पर ही—यदि यह अपने व्यक्तित्वके यथाक्रम प्रकाश और वृद्धिशील अर्थपूर्णता द्वारा कोई पहाड़ों में पहाड़ हो भी—हम इससे परिचित हो पाते हैं। इसके गुप्त-से-गुप्त स्थानों की यात्रा के पश्चात्, नीचे मैदान से हमें यह चिर-परिचित प्रतीत होता है। यद्यपि वहाँ से यह संध्या-काल के अवकाश में दाँत चाँपती हुई पर्वतमाला के बीच मे एक छोटा-सा, नीला शोला-भर दीखता है।" मै सोचता हू गढ़वाल का 'काले पहाड़' तो कठिनाइयों का प्रतीक है। इसकी कल्पना ही से कन्या का हृदय काँप उठता है।

वसन्त ऋतु का स्वागत् झुमैलो द्वारा किया जाता है जो अनेक अवसरो पर नृत्य-गीत के रूप ही में इस जनपद की रंगभूमि पर मचल उठता है—

आई गेन ऋतु बौड़ी दाई जनो फेरो, झुमैलो
ऊबा देसी ऊबा जाला, ऊदा देसी ऊँदा, झुमैलो
लम्बी-लम्बी पुँगड़्यों मां रऽरऽ शब्द होलो, झुमैलो
गेहूँ की जौ की सारी पिंग्ली होई गैने, झुमैलो
गाला गीत वसन्ती गौं का छोरा ही छोरी, झुमैलो
डांडी कांठी गूँजी ग्येन ग्वैरू को गितूना, झुमलो
छोटी नौना नौनी मिलि देल्यूँ फूल चढ़ाला, झुमैलो :
जौं का भाई रला देला टालुकी अँगूड़ी, झुमैलो
मैतु बैण्युँ कु अप्णी बोलौला चेत मैना, झुमैलो

- 'वसन्त ऋतु लौट आई, फसल माँड़ते समय बैलों के चक्कर के समान, झुमैलो !
ऊपर देश वाले ऊपर जायंगे, नीचे देश वाले नीचे, झुमैलो !
लम्बी-लम्बी क्यारियो में (किसानों का) रऽरऽ शब्द होगा, झुमैलो !
गेहूँ और जौ के सादे खेत पीले हो गए हैं, झुमैलो !

वसन्ती गीत गायेंगे, ग्राम की कन्याएं और युवक, झुमैलो !
छोटी-बड़ी पहाड़ियां गूँज उठी हैं ग्वालों के गीतों से, झुमैलो !
बालिकाएं और बालक मिल कर दहलीज़ों पर फूल चढ़ायंगे, झुमैलो !
जिसका भाई होगा अंगिया और ओढ़नी का उपहार देगा, झुमैलो !
और मायके में बुलायगा बहिन को चैत्र मास में, झुमैलो !'

मांगल गीतों के अन्तर्गत ग्राम देवता की प्रार्थना गढ़वाली प्रतिभा का स्नेह-स्पर्श लिये हुए है—

पोखरी का हीत, जय जश दे
तेरी जाती को आयो, जय जश दे
भेंट ली क्या लायो जय जश दे
सोबन धु पानी लायो, जय जश दे
तेरी भेंट कु आयो, जय जश दे
लौग सुपारी लायो, जय जश दे
मोत्यों भरि थाल लायो, जय जश दे
पोखरी का हीत, जय जश दे
तेरी जाती को आयो, जय जश दे

—'हे पोखरी गाँव के देवता, जय और यश दे
तेरी जयन्ती को आया हूँ, जय और यश दे
'भेंट को क्या लाया है रे ?'—जय और यश दे
'सोने की धूपदानी लाया हूँ, जय और यश दे
तेरी भेंट को आया हूँ, जय और यश दे
मोती भर कर थाल लाया हूँ, जय और यश दे
हे पोखरी गाँव के देवता, जय और यश दे'

पहाड़ों में हर गाँव का अपना देवता होता है, जिसके सम्मुख जनता अपने दुःख मिटाने और सुख में वृद्धि कराने की इच्छा से खड़ी होती आई है। देवता चुप रहता है। शायद वह कभी-कभी यह ज़रूर पूछना चाहता है—तुम मेरी भेंट को क्या लाये हो ?

कुछ ऐसे गीत भी हैं जिनमें किसी-न-किसी ग्राम की प्रशंसा की गई है। 'मलेथ' ग्राम का गीत सुनिए—

कैसो च भंडारी तेरा मलेथ ?
देखी भली ऐन सैवो मेरा मलेथ
लकदी गूल मेरा मलेथ
गाँऊँ मूड़ को घर मेरा मलेथ
पालंगा की बाड़ी मेरा मलेथ

लासणा की क्यारी मेरा मलेथ
गाइयों की गोठ्यार मेरा मलेथ
भैंसी को खुरीक मेरा मलेथ
बाँदू का लड़क मेरा मलेथ
बैखू का ढसक मेरा मलेथ

—'ओ भंडारी राजपूत, कैसा है तेरा 'मलेथ' गाँव ?
देखने में भला लगता है, साहबो, मेरा मलेथ।
ढलकती नहीं है वहां—मेरा मलेथ।
गाँव की निचान में घर है मेरा—मेरा मलेथ।
पालक की बाड़ी है—मेरा मलेथ।
लहसुन की क्यारी है—मेरा मलेथ।
गौओं की गोठ है—मेरा मलेथ।
भैंसों की भीड़ है— मेरा मलेथ।
कुमारियों की टोली है—मेरा मलेथ।
वीरों का धक्कमधक्का है—मेरा मलेथ।'

एक 'माँगल' गीत में उस अवसर की झाँकी प्रस्तुत की गई है जब पार्वती दुलहिन बनी थी—

शिवजी पैट्या मांगल्युएयूं का थला ध्यूला
कैसो देखेलो पारबती जी को रूप
गूठड़ी देखेली गोल्याली गार
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
फिलोरो देखेली दूब सी मुंगरे
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
जांगुड़ी देखेली केला की सी गोदगी
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
कमरी देखेली हरिनी समान
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
छाती त देखेली कैलास समान
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
भुजा त देखेली बड़ सी बडारी
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
ओंठणी देखेली दालिमा सी फूल
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप

दांतुणी देखेली जाई की सी कली
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
नकदोड़ी देखेली जौ लाँसी भंकोरी
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
कनफुले देखेली जौंलसी घुघती
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
आँखड़ी देखेली कमल सी पाँखड़ी
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
भृकुटी देखेली धनुस की-सी रेख
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
माथी देखेली सोवन की सी पाटी
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
केस देखेली सौण की सी रुमझुम
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप

—'शिवजी मांगल्य-स्थल (ससुराल) को चले तो सोचने लगे—
कैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ?
एड़ी दीखेगी गोल-गोल मरमर सी
वैसा दीखेगा पार्वती का रूप ।
पिण्डली दीखेगी दूब के रंग की मुंगरी सी
वैसा दीखेगा पार्वती का रूप ।
जंघा दीखेगी केले की पोरी सी
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
कमर दीखेगी हिरनी की सी
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
वक्षःस्थल तो दीखेगा कैलास के समान
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
भुजायें तो दीखेंगी वट वृक्ष की शाखाओं सी
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
होंठ दीखेंगे अनार के फूलों से
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
दाँत दीखेंगे चमेली की कलियों से
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
नासिकाएं दीखेंगी तुरहियों के जोड़े-सी

वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
कर्णफूल दीखेंगे पंडुकी पक्षियों के जोड़े से,
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
आँखें दीखेंगी कमल की पंखड़ियों सी,
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
भृकुटी दीखेगी धनुष की रेखा सी,
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
माथा दीखेगा स्वर्ण-पटिया सा,
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
केश दीखेंगे सावन की रिमझिम से,
वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप !'

झुमैलो नृत्य की तरंगमें जब प्रेम,यौवन और सौंदर्यकी त्रिवेणी प्रकृति की पृष्ठभूमि में सजीव हो उठती है, यों भी होता है कि एकाएक झुमैलो गीत धार्मिक भाव-धारा की ओर मुड़ जाय । एक झुमैलो गीत मे बद्रीनाथ का बखान है । इस गीत की अन्तिम पंक्ति में टिहरी नरेश की ओर संकेत किया गया है—

बालो छ बदरी, झुमैलो
परबत आई, झुमैलो
गढ़वाल आई, झुमैलो
दिनु को दाता, झुमैलो
राजा को सामी, झुमैलो

—'बदरी बालक है—झुमैलो !
वह पर्वत पर आ गया—झुमैलो !
वह गढ़वाल में आ गया—झुमैलो !
वह दीनों का दाता है—झुमैलो !
वह राजा का स्वामी है—झुमैलो !'

किसी-किसी गीत में देश की याद प्रस्तुत की गई है । भले ही कोई रोज़गार की तलाश में पहाड़ से उतर कर नीचे मैदानी प्रदेश में चला जाय, घर की याद तो पीछा नहीं छोड़ती—

कख होली मेरी डांडी व कांठी
कख कुयेड़ी सौण की
रुमझुम बरखा छुम छुम छोया
मैं सणि सुभीं छ रोण की
डांडियों का बीच ग्वालों का गीत

खुद बढ़ौंदा मन की
आलण का बीच छानी मां होली
भैंसी बियाई सौण की
भट्ट बुकांदा दूद तचौंदा
गोंदगी खांदो नौण की

—'कहां होंगी मेरी ऊँची-नीची पहाड़ियाँ ?
कहाँ होगा वह सावन का कोहरा ?
वह रिमझिम वर्षा, वह पानी का छुम-छुम उछाल,
उसे याद करते-करते मुझे रोने की सूझी है।
पहाड़ियों के बीच वह ग्वालो का गीत
मेरे मन में देश देखने की भूख बढ़ाता है।
वर्षा के घास के बीच झोंपड़ी में होगी
वह सावन में बिआई हुई भैंस।
वे भुना हुआ अनाज खाते होंगे, दूध पीते होगे,
और वे मक्खन का चक्का खाते होंगे।'

यदि कोई पूछ बैठे कि गढ़वाल का सबसे लोकप्रिय गीत कौनसा है तो मैं कहूंगा मूँगा का गीत। यह मूँगा कौन थी ? किस ग्राम की थी ? इन प्रश्नों का उत्तर मेरे लिए सहज नहीं। बस यह समझ लीजिए की मूंगा का नाम आते ही गाने वालों के सम्मुख मूँगा का चित्र सजीव हो उठता है। जैसे उस समय फिर से किसी नई प्रेम-गाथा का आरम्भ होने चला हो—

चलदी किनि चलदी, मूँगा, डाँडू का सौड़ू मां
तेरी माई को रैबार अई गिया नेगियों का नौना मां
घर औणो भूली गये, मूंगा, यारू की बातू मां
भल भल सिकार खांदी, मालू का पात मां
मोड़या जलेबी खांदी, मालू का पात मां
भल भल मिठाई खांदी मालू का पात मां
घर औणो भूली गये, मूँगा, यारू की बातू मां
सारी राती काटी, मूँगा, डांडू का सौड़ू माँ
सर मूंगा मिजाजी मूंगा डाँडू का सौड़ू माँ
सर मूंगा पछमियानी मूंगा डाँडू का सौड़ू माँ

—'चलती हो या नहीं, मूँगा, 'डांडू' के खुले स्थान में ?
तेरी मां का सन्देसा आगया 'नेगी' लड़के के हाथ।
तुझे घर आना भूल गया, मूँगा, यारों की बातो में।

भला-भला शिकार खाती हो मालू के पत्ते में।
मुड़ी हुई जलेबी खाती हो मालू के पत्ते में।
भली-भली मिठाई खाती हो मालू के पत्ते मे।
घर आना भूल गया, मूँगा, यारों की बातो में।
सारी रात बाहर गुज़ार दी, मूँगा, 'डाँडू' के खुले स्थान में।
रूपसी मूँगा, मिज़ाजी मूँगा, 'डांडू' के खुले स्थान में।
रूपसी मूँगा, पच्छिम की ओर की मूँगा, 'डांडू के खुले स्थान में!'

एक गीत का जन्म 'घीमी लौंदो' के आलाप पर हुआ है। 'घीमी लौंदो' का दार्थ क्या है, यह कोई नहीं बता सका। इसका अर्थ कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है इसने हृदय के तार हिला दिए हैं—

घीमी लौंदो, ए दिदा सुरीजो, घीमी लौंदो
दुतारी को तार टूटियो, घीमी लौंदो
ये छन्द मैतणा होय, घीमी लौंदो
एक दिन मरी जाणा, घीमी लौंदो
सारङ्गी को तार टूटियो, घीमी लौंदो
घीमी लौंदो, ए दिदा सुरीजो, घीमी लौंदो
आधा रोटी रोज खांदी, घीमी लौंदो
सोने को पीतल होई, घीमी लौंदो
पीतल को लोहा होई, घीमी लौंदो
लोहा को माटी होई, घीमी लौंदो
घीमी लौंदो, ए दिदा सुरीजो, घीमी लौंदो

—'घीमी लौंदो, ओ सुरीजो भाई, घीमी लौंदो!
दुतारे का तार टूट गया—घीमी लौंदो!
मायके मे मेरी यह दशा हुई—घीमी लौंदो!
एक दिन मै मर ही जाऊंगी—घीमी लौंदो!
सारंगी का तार टूट गया—घीमी लौंदो!
घीमी लौंदो, ओ सुरीजो भाई, घीमी लौंदो!
आधी रोटी रोज़ खाती हूँ—घीमी लौंदो!
सोने से पीतल हो गई हूं—घीमी लौंदो!
पीतल से लोहा हो गई हूँ—घीमी लौंदो!
लोहे से मिट्टी हो गई हूँ—घीमी लौंदो!
घीमी लौंदो, ओ सुरीजो भाई, घीमी लौंदो!'

'बाजूबन्द' गीतों की संख्या सबसे अधिक है। इनकी रचना का क्रम सदैव

चलता रहता है। जैसे तकली से तार निकलता है, कुछ ऐसे ही गाने वाले के हृदय से 'बाजूबन्द' के तार कभी खत्म ही नहीं होते। इन गीतों में 'सूआ' शब्द सुग्गे या तोते के अर्थ में नहीं बल्कि प्रेमिका के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

गँगा जी को औत
तराजू नो तोलि लैणी, कै कि माया बौत
—'गंगा जी का भंवर,
तराज़ू में तोल कर देखेंगे कि किसका प्रेम अधिक है।'

खलियाण दाँदो
माया लाँदा तोय माँ, तू गंगा को जाँदो
—'खलिहान की सीमा,
मैं तेरे साथ प्रेम में बंध गई, तुम गंगा की ओर जा रहे हो।'

राजा जी को राणी
रगड़ू नो सूकि जाणा, रई स्यलवाणी पाणी
—'राजा जी की रानी,
बरसाती पानी सूख जायगा, झरने का पानी सदैव रहेगा।'

सड़के की ऊँटणी
तेरी मेरी माया सूआ, चूलू की चटणी
—'सड़क की ऊंटनी,
तेरा मेरा प्रेम, हे सखी, चूलू की चटनी-सा है।'

मौली जाली दूब
तेरा मन माया लाण, मेरा मन खूब
—'दूब के अंकुर निकल आये,
तेरा मन प्रेम करने को है, मेरा मन भी खूब है।'

अँखोड़ू की टूकू
देणी लैणी फूँडो फूको, मैं माया कू भूकू
—'अखरोट की कोंपल,
देने लेने को दफा करो, मैं तो प्रेम का भूखा हूँ!'

झँगोरा की बाल
जवानी भरी सुरेसी, जैसा गौं का ताल
—'झंगारा अनाज की बाली,
ओ सुरेसी, तेरा यौवन भर चुका है, जैसे ग्राम का तालाब।'

दाबुड़ा की धार
कखन दीखेणे पँछी, देवता की चार

—'हँसिये की धार,
तुम कहां से दिखाई दे गए, ओ पक्षी, देवता के समान !'

दूद की जमुन
जनम जनम हूण मूँगा माया को जतन

—'दूध के लिए जामन,
जन्म-जन्म के लिए रहेंगे, मूँगा, प्रेम के हाव-भाव !'

धरती अमर
तेरी मेरी माया सूआ, लपलप चमर

—'धरती अमर है
तेरा मेरा प्रेम हे सखी, हिलता-डोलता चँवर है !'

हाती बुणी माणी
माया मसूरी मां लाई, टुटली तो जाणी

—'माणी (अनाज मापने की टोकरी) हाथ से बुन ली,
मसूरी में प्रेम लगाया है, टूट गया तो तुम जानो।'

छाती तरसानी
अँग्रेज को जादू चल लो, दूद होयो पाणी

—'तरसाने वाला वक्षःस्थल,
अंग्रेज़ का जादू चल गया, दूध पानी हो गया।'

मंडुआ की घूंसी
अपना जोबन देखी, आफी रूंछे खूसी

—'मंडुए की भूसी,
अपना यौवन देख कर तुम स्वयं खुश रहती हो।'

चाँदी को बटण
तोय कैन सिकाये सूआ, माया को जतन

—'चांदी के बटन,
तुझे किसने सिखाए, हे सखी, माया के यत्न ?'

झंगोरा की घाण
जै कि माया घनाघोर, आंखियों माँ पैछाण

—'झंगोरा अनाज का ढेर,
जिसका घनघोर प्रेम होगा, आँखों से ही पहचान लिया जायगा।'

कस्तूरी बेण
मसूरी भाग्याणी, मैं आया चाँदी लैण

—'कस्तूरी की थैली
ओ भाग्यशालिनी मसूरी, मैं चांदी लेने आया हूँ।'

परोठो दूद को
दौड़ी आया धरती, तुमारी खुद को

—'दूध का परौंठा
मैं दौड़ कर आया हूँ, ओ धरती, तुम्हे देखने की अभिलाषा से।'

सड़कि को घूम दा
सदा नी नि रैनी सूआ, जबानी की घूम दा

—'सड़क का घुमाव,
सदा नहीं रहेगी, ओ सखी, यौवन की यह धूम।'

पहाड़ों में सड़क थोड़ी-थोड़ी दूर के बाद घूमती हुई चलती है। प्रेमी का भाव कदाचित् यह है कि सड़क की भाँति ही आयु में भी कितने ही घुमाव आते हैं। अतः यौवन के चढ़ाव के पश्चात् शीघ्र ही उतार का घुमाव आजाता है। इसलिए जितनी जल्दी हो सके, यौवन का वास्तविक आनन्द उठा लेना चाहिए।

: ३ :

'सड़क' की कल्पना आज नया रंग लिये हुए समस्त गढ़वाल को जोड़ रही है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 'गढ़वाल की एक यात्रा' शीर्षक लेख में गढ़वाल की इस माँग का विशेष रूप से उल्लेख किया है—

"गढ़वाल का टिका हुआ चित्र एकांत और निर्धनता का चित्र था। आश्चर्य होता था कि हम बाकी संसार के कितने समीप थे और फिर भी कितने अलग। बीस मील अब एक कठिन दिन की यात्रा चित्रित करते थे जैसा कि सहस्रों वर्ष से होता चला आया था। इन बीते युगों में मुश्किल से यातायात में कोई उन्नति हुई होगी। यात्रा पैदल की जाती थी, या कभी-कभी घोड़े पर। केवल तार का सिलसिला ही विज्ञान और वर्तमान संसार का ध्यान दिलाता था। इस विस्तृत जनपद में कच्ची सड़कों का अभाव विचित्र प्रतीत होता था, और कोई आधी शताब्दि से एक अच्छी सड़क के लिए दिन-दिन ऊँची होती माँग की जाती रही है। इसके सम्बन्ध में हम पहले ही सुन चुके थे। पर इसके पीछे जो जोश था उसे हमने पूरी तरह समझा नहीं था। हर कहीं हर तरह के लोगों ने सड़क के लिए मांग की, प्रार्थना की, पुकार की। हर बात उनके लिए दूसरा दर्जा रखती थी और स्वराज्य ने उनके लिए पहाड़ों के सीने से नीचे मैदानों की ओर उतरती हुई सड़क का रूप धारण कर लिया था। उन्होंने बताया कि यह उनके जीने और मरने का मामला है। हमें सड़क दो, नहीं तो हम मरते हैं—वे आग्रह करते थे।"

स्वतन्त्र भारत में गढ़वाल अवश्य उस सड़क पर अग्रसर होगा जिसके स्वप्न वह

युग-युगान्तर से देखता आया है। सड़क आज उन्नति की प्रतीक है, और इसी अर्थ में इस का प्रयोग नये गढ़वाली लोकगीतों में अवश्य होगा।

गढ़वाल का चित्र मेरी कल्पना में सदैव सजीव हो उठता है। वे बद्रीनाथ, केदारनाथ और ऋषिकेश के सुन्दर दृश्य, गंगा का बचपन, गंगा का यौवन, वे पहाड़ और घाटियां, वे चीड़ के वृक्ष, वे छलछलाती वेगवती नदियां, देवप्रयाग में भागीरथी और अलकनन्दा की गलबहियां, वह दोनों बहिनों का एक हो जाना, उनका पहले नामों का मोह छोड़ कर गंगा नाम अपना लेना, अलकनन्दा के किनारे खुली घाटी में बसा हुआ श्रीनगर, पहाड़ी पर मुकुट की तरह रखी हुई पौड़ी नगरी में दूर उत्तर की ओर हिमालय के बर्फीले शिखरों के दर्शन, बद्रीनाथ और केदारनाथ, चौखम्बा और त्रिशूल, बल्कि नन्दादेवी की झांकी भी, वे अनगिनत ग्राम, किसान स्त्री-पुरुष, बालक, युवा और वृद्ध—और उनकी आँखोंमें झांकता हुआ गढ़वाल। यह चित्र मुझे प्रिय है। इस चित्र को मैं अपनी कल्पना के कला-भवन में सदैव एक महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए उत्सुक रहूँगा। नृत्य और गीत इसे सदैव एक सवाक् चल-चित्र का रूप देते रहेंगे।

भारतमाता

: १ :

उत्तर से लेकर दक्षिण तक, और पूर्व से लेकर पश्चिम तक, चौखूँट भारतमाता एक-सी परम्पराओं पर गर्व करती है; एक-सी आशा निराशा, एक-से सुख दुःख, एक-से संस्कार, उत्सव और मेले उसकी एकता के प्रतीक हैं।

प्रान्त-प्रान्त के लोकगीतों में भारतमाता की एक-सी झांकी देखकर और प्रत्येक भाषा में भारतमाता के एक-से हृदय-स्पर्शी बोल सुनकर हम गद्‌गद् हो उठते हैं। युग युगान्तर से भारतमाता की सन्तान एकता का अनुभव करती आई है।

चरखे के गीत प्रान्त-प्रान्त में परस्पर मेल खाने वाले स्वरों में युग-युगान्तर से प्रचलित हैं। चौखूँट जीवन की समस्याओं का एक-सा समाधान जनता की सामूहिक प्रतिभा का सूचक है। सभी प्रान्त लोक-साहित्य में साझेदार हैं। श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी ने ठीक ही कहा है—"भारत के सौभाग्य से, लोक-संस्कार प्रान्त-प्रान्त में बहुत करके एक ही किस्म के थे। इसलिए कला और साहित्य के अक्षर भी एक ही तरह के निकले। अपभ्रंश का साहित्य सारे उत्तर में एक ही तरह का था; दोहे जैसे गुजरात में थे, वैसे ही आसाम में थे; और जो गरबा और बारहमासी हमारे गुजरात की विशेषता माने जाते हैं, वे थोड़े से हेर-फेर के साथ हरेक प्रान्त के लोक साहित्य में मिलते हैं। हम यह समझ बैठे हैं कि 'गरबा' नृत्यगीत का इजारा गुजरात की स्त्रियों ने ही ले रखा है।

पर बात ऐसी नहीं है। शार्ङ्गधर ने प्रमाण दिया है कि पार्वती ने शंकर भक्त बाणासुर की लड़की उषा को 'लास्य नृत्य' सिखाया था और उसने सौराष्ट्र (गुजरात) की स्त्रियों को सिखाया। मगर अभी-अभी जब मैंने अपनी आंखों से देखा, तब जाना कि आन्ध्र, तामिलनाड और केरल में भी ये असुर कन्याएं आकर रही थीं, और वहां की स्त्रियों ने भी ऐसे ही गरबा-नृत्यगीत हमारे जाने बिना ही सीख लिए थे। हमारा इजारा अटकलपच्चू था। भारतीय संस्कारों का जो समुद्र चारों तरफ उछलता हुआ लहरा रहा है, जब वह हमारे किनारे पर उछला, तो हम उसे अपना ही तालाब मान बैठे।"

आन्ध्र देश के संस्मरण मुझे सदा प्रिय रहेंगे। चरखे का गीत, जिसे आन्ध्र नारी न जाने कब से अपनी किसी सहेली को सम्बोधन करती हुई गाती चली आ रही है, आज भी मेरी आत्मा को छू-छू जाता है—

मोगुड़ेन्दुके नारी
असल मोगुड़ेन्दुके
राटम सल्लङ्गुन्टे
रप्पिस्ता गोलकोण्डा
मोगुड़ेन्दुके नारी
असल मोगुड़ेन्दुके

—'पति काहे को, ओ नारी
सचमुच पति काहे को ?
चरखा सही सलामत रहा
तो मैं गोलकोण्डा को यहीं खींच लाऊँगी !
पति काहे को, ओ नारी,
सचमुच पति काहे को ?'

इस आन्ध्र लोकगीत का जन्म उस युग में हुआ होगा जब कि गोलकोण्डा नगर खूब मालदार था। चरखा कातती नारी ने एक दिन यह समझ लिया था कि वह ग़रीबी के चंगुल में कभी न फंसेगी, चरखा उसे आर्थिक चिन्ताओं में उलझने से सदा बचाता रहेगा। और तो और, उसे पति की कमाई की भी परवाह नहीं। उसका चरखा ही उसके घर में गोलकोण्डा की सी बेफिक्री हाज़िर कर दिखायगा।

प्रान्त-प्रान्त के लोकगीत पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि भारत का लोक-मानस एकता का हामी है। ठीक ही तो है। प्रान्त-प्रान्त का भाग्य परस्पर बंधा हुआ है। एक-से अश्रु, एक-सी मुस्कान गीतों में व्यापक जीवन को छू-छू जाने वाला उल्लास, गीतों के ताने-बाने में समस्त हिन्दुस्तान के सुख-दुःख के दृश्य—यह सब देखकर प्रान्त-प्रान्त की आपसदारी का जो ज़बरदस्त प्रमाण मिलता है, उसे मानने से इन्कार करना आसान नहीं।

: २ :

कहां से आते हैं इतने गीत ? स्मरण-विस्मरण की आंखमिचौनी से । कुछ अट्टहास से। कुछ उदास हृदय से । कहां से आते हैं इतने गीत ? जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत। कल्पना भी अपना काम करती है, रसवृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी—पर ये सब हैं खाद । जीवन के सुख, जीवन के दुःख, ये हैं लोकगीत के बी ।

ग़रीबी के गीत तो बहुत हैं। युक्त-प्रान्त में बरसात में गाई जाने वाली एक 'कजली' में हम एक देहाती नारी को अपनी आप-बीती सुनाते पाते हैं—

गई बिकाय हमरी झुलनिया ना
झुलनिया ना, झुलनिया ना
एक तो पिया छकमार
दूजे बन्द कारबार
गई बिकाय हमरी झुलनिया ना
आयल तीजक त्यौहार
कैसे करूं मैं सिंगार
रैहन बाटे 'जवा' 'टीक' 'पचमनियॉ' ना
किहेसी देहियॉ उधार
मोर ऐसन भरतार
हारायल मोर कलया क कङ्गनिया ना
सखि पहिरे गले हार
लखि ललचै जीया हमार
साहूकार कोई मिलैना बिससिया ना

—'मेरी झुलनी बिक गई
झुलनी ! हाय वह झुलनी !
एक तो पति जुआरी ठहरा
दूसरे कारबार बन्द हो गया,
मेरी झुलनी बिक गई।
तीज का त्यौहार आ पहुँचा,
मैं कैसे सिंगार करूँ ?
'जवा' 'टीक' और 'पचमनियाँ' रेहन रखे जा चुके हैं।
मेरी देह पर सुन्दर कपड़ा भी तो नहीं है,
मेरी कलाई का कंगन भी छिन गया है,
मेरी सखी गले में हार पहन रही है—
देखती हूँ तो मेरा जी ललचाता है।

कोई विश्वासी साहूकार भी तो नहीं मिल रहा !'

जुआरी पति एक-एक करके बेचारी नारी के सब गहने उतारता चला गया। झुलनी' ही रह गई होती तो आज वह किसी तरह तीज के त्यौहार पर अपनी सखी के शृंगार की ओर देखकर यों ललचा न उठती। ग़रीब नारी क्या तीज मनायेगी ? और फिर ऐसा कोई साहूकार भी तो नहीं जो उस पर विश्वास करके उसे एक-दो दिन के लिए गहने पहनने को दे दे।

अंग्रेजी काल का एक गीत, जिसमें ग्वालियर रियासत की स्त्री ने अपना दुखड़ा सुनाया है, ग़रीबी के इतिहास का एक नया पृष्ठ है—

राजा थारा राज में तो
खोगारी घड़ाई रे
फरंगी का राज में तो
खास लीधी रे

—'ओ राजा ! तेरे राज में
मैंने हंसली बनवाई थी।
अंग्रेज के राज में
वह छिन गई।'

पर ग़रीबी और दुःख के गीत समस्त जीवन पर कभी नहीं छा सकते। आशा का मुस्कराता चेहरा भी अपनी झलक दिखला जाता है, बीच-बीच में। एक आन्ध्र लोकोक्ति की आवाज़ भी सुन लीजिये—

कदुरु तिरिगिना
काठव माडिना
करुवु लेदु

—'तकला चलने पर
मथानी चलने पर
अकाल नहीं पड़ने का।'

पंजाबी लोकगीतों में स्थान-स्थान पर चरखे का अभिनन्दन हुआ है। प्रायः स्त्रियाँ किसी एक घर में इकट्ठी होकर चरखा कातती हैं; यह चरखा-संघ 'त्रिंजन' या 'तिंजन' कहलाता है। परदेस जाते पति को सम्बोधन करके स्त्री ने जो बात कही थी वह एक गीत में आज भी जीवित है—

जे उट्ठ चल्लियों चाकरी, चाकरी वे माहिया
सान्नूँ वी लै चल्लीं नाल वे
अखियाँ नूँ नींद क्यों न आई वे
तूँ करेंगा चाकरी, चाकरी वे माहिया

मैं कत्तांगी सोहणा सूत वे
अख्खियाँ नूँ नींद क्यों न आई वे
इक्क टका तेरी चाकरी, चाकरी वे माहिया
लख्ख टके दा मेरा सूत वे
अख्खियाँ नू नींद क्यों न आई वे

—'यदि नौकरी के लिए उठ चले हो, नौकरी के लिए ओ प्रीतम !
तो मुझे भी अपने साथ ले चलो ।
अजी ओ मेरी आँखों को नींद क्यों नहीं आई ?
तुम नौकरी करोगे, ओ प्रीतम !
मैं काता करूँगी सुन्दर सूत ।
अजी ओ मेरी आँखों को नींद क्यो नहीं आई ?
तुम्हारी नौकरी होगी एक रुपये की ओ प्रीतम !
मेरा सूत होगा एक लाख रुपयों का ।
अजी ओ मेरी आँखों को नींद क्यों नहीं आई ?'

एक राजस्थानी लोकगीत में हम एक स्त्री को परदेसी पति की याद में गाते समय चरखे का एक चिरंजीवी गान करते सुन सकते हैं । लोकजीवन की यह अनुभूति एक बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक तसवीर हमारे सम्मुख लाने में समर्थ हुई है—

चरखो तो ले ल्यूँ, भंवरजी, रॉगलो जी
हाँ जी ढोला, पीढ़ा लाल गुलाल
तकवो तो ले ल्यूं जी, भंवर जी, बीजलसार को जी·
ओ जी म्हारी जोड़ी रा भरतार
पूणी मंगा ल्यूं जी क बीकानेर की जी
म्होरे म्होरे रो कातूं, भंवर जी, कूकड़ी जी
हाँ जी ढोला, रोक रुपइये रो तार
म्हे कातूं थे बैठा विणज ल्यो जी
ओ जी म्हारी लाला नणद रा ओ वीर
अब घर आओ प्यारी ने पलक न आवड़े जी
गोरी री कमाई खासी रांडिया रे
हाँ ए गोरी, कै गाँधी कै मणियार
म्हे छाँ बेटा साहूकार रा जी
ए जी म्हारी घणीए प्यारी नार
गोरी री कमाई सूं पूरा न पड़े जी

'एक रंगीला चरखा ले लूँगी मैं, ओ प्रीतम !
अजी ओ ढोला, एक लाल-गुलाल पीढ़ा ले लूंगी ।
उत्तम, पक्के लोहे का, ओ प्रीतम, में तकला ले लूँगी,
अजी ओ मेरी जोड़ी के भरतार !
बीकानेर से पूनियां मंगवा लूँगी,
एक-एक मोहर के दाम की कातूंगी एक-एक कुकड़ी ।
अजी ओ ढोला, एक-एक रुपये का होगा एक-एक धागा ।
मैं कातूंगी और तुम बैठे इसका व्यवसाय करना ।
अजी ओ मेरी लाल ननद के भाई ! जल्दी घर आओ,
तुम्हारी प्यारी को अब पल भर भी चैन नहीं ।'
'स्त्री की कमाई खायगा कोई नामर्द,
या कोई इतर बेचने वाला, या कोई मनिहार, ओ रूपवती !
मैं तो साहूकार का बेटा हूँ ।
हे मेरी बहुत प्यारी नारी !
पत्नी की कमाई से काम नहीं चलता ।'

राजस्थानी नारी की चरखे के प्रति यह आस्था आज भी कायम है, और जब वह यह गीत गाती है पुरुष के उत्तर पर मन ही मन व्यंग्य कसकर रह जाती है ।

अब दो कोंढ गीतों का रसास्वादन कर लीजिए । कोंढ सरीखी आदिम जाति के मुख से जो गुनसूर उदयगिरि एजेंसी (उड़ीसा) में बसी हुई है, चरखे का गान सुनकर भला कौन पुलकित नहीं हो उठेगा ।

पहले गीत में सोने के चरखे का चित्र प्रस्तुत किया है—

सूना ड्रोयें तानी सजाँगा ओस्पीमानूं
तीरी मुड़ेंगी तानी सुकांगा ओस्पीमानूं
रूपा ईड्रू तानी सजाँगा ओस्पीमानूं
काली सोरू तानी जिलमिलिंगा ओस्पीमानूं
बुहाड़ी सिण्डा टाटानाई राजाली
नोटका कोगाई एस्पीमाने

—'सोने के चरखे में हीरे चमक रहे हैं ।
निर्मल आकाश में तारे चमक रहे हैं ।
चांदी के घर में हीरे चमक रहे हैं ।
काले जंगल में जुगनू चमक रहे हैं ।
नीले वस्त्र पहनकर रानी
बारीक सूत कात रही है ।'

दूसरे कोंड लोकगीत में एक दम्पति की गाथा गाई गई है जो एक दूसरे को राजा रानी कहकर बुलाते हैं—

देहाने सांजामाने ड्रोयें
एम्बाई गाड़ीगीते साँजा ड्रोयें
राजाली नुटका एस्पीने
साँजा सिएडा टाटाना
देहाने साँजा माने कोपा
एम्बाई गाड़ीगीते सांजा कोपा
राजेंजू ओस्कीमानेंजू
सांजा सिएडा टाटाना
ओ राजाली, ओ राजाली
नेगी नूटका गिम्मूला
ड्रोयें इसिंगी सांजा माने
एह्ंगी नुटका गिम्मूला
ओ राजेंती, ओ राजेंती
त्लाम्बेरका ड़ाई
कोंगाई नूटका देहाने
बिल्लू एसे साड़ा साजीने
ड्रोयें गापसी साजीने
ओ राजेंती, ओ राजेंती
नेगी सिएडा ओसामूं
कोपा इसिंगी सांजामाने
एह्ंगी सिएडा ओसामूँ

—'चरखा बहुत सुन्दर है,
किसने बनाया है यह सुन्दर चरखा ?
रानी सूत कात रही है
सुन्दर वस्त्र पहन कर ।
बहुत सुन्दर करघा है
किसने बनाया है यह सुन्दर करघा ?
राजा वस्त्र बुन रहा है
सुन्दर वस्त्र पहन कर ।
'ओ रानी ! ओ रानी !
अच्छा सूत कातो ।

जितना सुन्दर चरखा है
उतना सुन्दर सूत कातो।'
'ओ राजा ! ओ राजा !
मेरा सूत मेरे केशों से भी बारीक है।
मेरा चरखा चलता है
तो हवा से बातें करता है।
ओ राजा, ओ राजा !
अच्छा कपड़ा बुनो।
जितना सुन्दर करघा है
उतना सुन्दर कपड़ा बुनो।'

अन्त में दो तामिल लोकगीत भी सुनिए। पहले गीत में एक घायल पक्षी शाणान जाति के किसी व्यक्ति की शिकायत कर रहा है—

शाणान करिमुड़िवान
शिरहइ अरुत्त विट्टान
कदवइ तिरवेरिड
कारणत्तइ केलेरिड
विलकइ येतेरिड
वेदनयइ तीरेरिड
वोलइ शलशलेनगा
वोड़ी वन्दालाहादो
पालइ शलशलेनगा
परन्द वन्दालाहादो

—'शाणान ने, जिसने अन्त में जलकर कोयला बनना है,
मेरा पंख काट डाला।
द्वार खोलो री,
कारण सुनो री,
दीपक जलाओ री
वेदना मिटाओ री।'
'ताड़ पत्तों के खड़खड़ करते ही
तुम दौड़कर नहीं आ सकते थे क्या ?
सूखे ताड़ पत्तों के खड़खड़ करते ही
तुम उड़कर नहीं आ सकते थे क्या ?'
गीत के दूसरे भाग में घायल पक्षी का उत्तर यथेष्ट सूझ-बूझ का परिचायक है।

समस्त गीत करुणा में डूबा हुआ है। शाणान जाति के लोग रस्सी के पट्टों के सहारे पीठ के बल देखते-ही-देखते ऊँचे-से-ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाते हैं। ताड़ का रस पीकर पक्षी मस्त बैठा होगा। योंही शाणान ने ताड़ की चोटी पर कुल्हाड़े से वार किया। पक्षी का पंख कट गया। यह तो अच्छा हुआ कि वह उड़ गया। पत्नी के पास पहुंचने पर जब वह पक्षी जल-भुनकर कहता है—'शाणान ने जिसने जलकर कोयला बनना है, मेरा पंख काट डाला' तो वह यों शाणान को गाली देकर अपने दिल का गुस्सा निकालता है।

दूसरा तामिल लोकगीत एक लोरी है—

पाल वलिम तोट्टिलिट्ट
पवल वड़म दानिशइत्त
पाल वण्णप्पट्टु मिट्टेन
पशंगिलिये कण वलराय
आरिण्ड कावेरी
अदन नडुवे शीरंगम
कूरु हिन्र तामरये
कुविन्दुड़ने कण वलराय्
शिप्पि हले शिरित्तुरंगम
तेन कड़लिन शिरुमुत्ते
शेप्पिलुरुम पालरुन्दि
शेम्मलरे कण वलराय्
पुदुमलरिल तेंडुत्त
पूशलिड़म वण्डिनमे
पुदुमलरहल वरुमलवुम
पोनवण्डे कण वलराय्
वेण्णलव पालशोरिय
मिन्नुमणि कणशिमिट्ट
वेणमलरे इदल कुवित्त
मेल्लणइल कण वलराय्

—'दूध तेरे मुँह से बाहर आ रहा है, मैंने पालना लगाकर
मूँगे की जंजीर जोड़ कर
दूधिया रंग का रेशम भी बिछा दिया है।
ओ हरे सुग्गे! सो जाओ।
कावेरी नदी की दो शाखाएँ हैं,
इनके बीच है श्रीरंगम,

वहां संकुचित होने वाले कमलों के समान
तुम भी अपनी पलकें भींचकर सो जाओ।
सीप में हंसकर सोने वाले
ओ दक्षिण समुद्र के नन्हे-मुन्ने मोती !
कसोरे में भरा हुआ दूध पीकर
ओ मेरे लाल पुष्प ! सो जाओ।
नये पुष्प में से रस लेकर
ओ शोर मचाने वाले भ्रमर समूह !
नये पुष्पों के खिलने तक
ओ सुनहले भ्रमर ! सो जाओ।
श्वेत चांदनी दूध बरसा रही है,
चमकदार तारे आंखें झपका रहे हैं,
ओ श्वेत पुष्प ! पलकें भींचकर,
नरम बिछौने पर सो जाओ।'

तामिल लोकगीत भाषा की दृष्टि से जितने अपरिचित प्रतीत होते हैं, उतने ही ये हमारे समीप आ जाते हैं। वही लोकमानस, जो समस्त भारत में चतुर्दिक बोलता है, तामिल लोकगीतों में भी अपने स्वर छेड़ता है।

ऊपर ऊपर से देखें तो चौखूँट विविधता के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु देखने वाले का ध्यान आकर्षित नहीं करती। पर भीतरसे देखें तो जोड़ने वाले धागों की महत्ता समझ में आ सकती है। कहाँ बंगला, कहाँ मराठी ? कहाँ गुजराती, कहाँ पंजाबी ? कहाँ उड़िया, कहाँ तेलुगु, तामिल, कन्नड़ और मलियाली ? अनेक भाषाएं हैं। बल्कि एक-एक भाषा के अनेक भेद हैं। फिर भी बहुभाषी भारतमाता की गतिविधि में अद्भुत समानता रही है, और यह समानता सदैव रहेगी। यही समानता अथवा एकता भारतमाता की सबसे बड़ी विशेषता है। दूर-दूर तक मैदानों में फैले हुए गांव, इन गाँवों में रहने वाली जनता, रीति-रिवाज और विश्वास, इन रीति-रिवाजों और विश्वासों को परस्पर पिरोता हुआ एकता का सूत्र--जनता के पुरातन गान और नृत्य—इस समस्त थाती पर भारतमाता गर्व करती है।

: ३ :

भारतमाता की विवेचना करते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने बड़े मार्मिक शब्दों में एकरेखा चित्र प्रस्तुत किया है—

"जब मैं किसी जलसे में पहुँचता तो मेरा स्वागत 'भारतमाता की जय' के नारे से किया जाता। मैं लोगों से अचानक पूछ बैठता कि इस नारे से उनका क्या मतलब है। यह भारतमाता कौन है जिसकी वे जय कहते हैं ? मेरे प्रश्न से उन्हें कुतूहल

और आश्चर्य होता और फिर कुछ उत्तर न बन पड़ने पर वे एक-दूसरे की ओर या मेरी ओर देखने लग जाते। मैं प्रश्न किये जाता। आखिर एक हट्टे-कट्टे जाट ने, जो अनगिनत पीढ़ियों से खेती करता आया था, उत्तर दिया कि भारतमाता से उसका आशय धरती से है। कौनसी धरती? खास उनके गांव की धरती, या ज़िले की, या प्रान्त की, या समस्त भारत की धरती से उनका आशय है? इस प्रकार प्रश्नोत्तर चलते रहते। यहां तक कि वे उबकर मुझसे कहने लगते कि मैं ही बताऊं। मैं इसका यत्न करता और बताता कि भारत वह सब कुछ है जिसे कि उन्होंने समझ रखा है। पर वह उससे बहुत अधिक है। भारत की नदियां, इसके पर्वत, वन और खेत, जो हमें अन्न प्रदान करते हैं, ये सभी हमें प्रिय हैं। पर अन्त में जिनकी गणना है वे हैं भारत के लोग, उनके और मेरे जैसे लोग, जो इस समूचे देश में फैले हुए हैं। भारतमाता वास्तव में यही करोड़ों लोग हैं और 'भारतमाता की जय' का आशय हुआ इन लोगों की जय से। मैं उनसे कहता हूँ कि तुम इस भारतमाता के अंश हो, एक प्रकार से तुम ही भारतमाता हो, और ज्यों-ज्यों ये विचार उनके मन में बैठते, उनकी आँखों में चमक आ जाती, इस प्रकार मानो उन्होंने कोई बड़ी खोज कर ली हो।"

किसी भी युग में भारतमाता स्थिर और गतिहीन नहीं रही। कहां ईरानी, कहां मिस्री? कहां यूनानी, कहां चीनी, अरब, मध्य-एशियाई और भूमध्यसागर के लोग? सभी भारतमाता से चिरपरिचित रहे हैं। संस्कृति के आदान-प्रदान पर भारतमाता को सदैव गर्व रहा है।

भारतमाता, तेरे अतीत को शत-शत प्रणाम, तेरे वर्तमान को प्रणाम, तेरे भविष्य को प्रणाम।

निर्देशिका

अंगिया, ११२, ११५, ११६, ११७
अंग्रेजी राज, १२२; अंग्रेज़ का जादू, १७३
अखरोट, १६०, १७२
अठारहवीं शताब्दी, ६२, १४१
अपभ्रंश, १७५
अप्सरा, ५८, ६२
अफ़ग़ानिस्तान, २६, ३१
अमरकोष, ३१
अमरापुर, ४७
अमलतास, १६
अलकनन्दा, १७५
'अलीसेर', ६०
अश्वमेध, ३०
असारे गीत, १४८
अहिंसा, ७१

आदिम निवासी, १०, १५
आन्ध्र, १७७; आन्ध्र लोकगीत, १७७
आबियाना, ६७
आभा, ४८
आर्थर, डब्लयू० जी०, ७
आर्थर वैलो, ७
आर्य सभ्यता, ६, १०
आराकान, ४७
आल्हा, १०६, ११०
आसाम, २६, ४३, ४५, ६१, १७५

इन्द्र, १३, १७, १८, १६, २२-२४, ३०, ४६
इन्द्रयात्रा, १४५

ईंडरी, १०५
ईख, ८५
ईरान, १६५
ईरावती के गीत, ५०-५३
ईसाई धर्म, ५६
ईसा मसीह, ६१

उत्तरायण, ६२
उदयगिरि, ३७
उरोज, ११६, १२३
उषा (बाणासुर की कन्या), १७७

ऋग्वेद, १८

एकतारा, ६३
एशिया पत्रिका, २

ऐडूज़, सी० एफ०,
ऐरावत, ४६

ओढ़नी, ११२, १६५

कच्छ, २६
कजली, १७७
'कड़ा' गीत, ८४
कन्दे स्वामी, ७०, ७१
कन्नड़ भाषा, १२८
कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, २, १७५
कन्याकुमारी, ४, ३१
कपफू पक्षी, १६१
कबूतर, ६४, १५४
करघा, १८२
कर्नाटक के लोकगीत, १५५
कलकत्ता, १४०
कला-भवन, (शान्ति निकेतन) ६२

'कली' गीत, ८४
कल्लू, ११४, ११५
कविता कौमुदी, (ग्राम-गीत), १३५
कस्तूरी, १७४
कहरवा, १४१
कहार, १४२
काँगड़ा जिला, १३७
काका कालेलकर, ४६, ५५, ६८, ६६
काठमण्डु, १४४, १४५
काठियावाड़, २
कान्हा घँघरे का राछरा, ११८
कापसे रेवप्पा नवरू १२६
काफल (जंगली फल), १६०, १६१
काफ़िरस्तान, २६
कार्तिक के गीत, ११६
काला पहाड़, १६५
कालिदास, ५६
काली नदी, १४४
कावेरी, ३३, १८४
काश्मीर, ३१, ३५
किकर दा, ६२
क्रिसमिस, ६१
क्षितिमोहन सेन, ६०
क्षीर सागर, ७
कुमारियों की होली, १६७
'कुरसी' फूल, ६४
कुर्ग के गीत, ३३
कृष्ण बलदेव वर्मा, स्व०, १२१
कृष्णानन्द गुप्त, १७८, १०६, ११०
केदारनाथ, १७५
केरल, १७७
के-ल्हाँगमा गीत, १४६
केवड़ा, १०४
कैप्टन नौर्दे, १४६
कैलास, १२६, १२७, १२८, १२६
कोंढ गीत, १८१, १८२
कोलम्बो, ६५, ६६, ७०, ७१, ७२, ७३
कोहरा, १६५, १७०
क्रौंच मिथुन, २८
कौशल्या, १३५, १३७

खंजड़ी, १३५
खलिहान, १७२
खाहर प्रदेश, ८१
खानाबदोश, ६
खासी लोकगीत, ३३

गंगा, ३०, ३१, ३३, ३७, ६०, ८३, १५६ १७२, १७५
गढ़वाल गज़ेटियर, १६१
गढ़वाली गीत, ३४, १६१-७५
गड्डियों का स्वदेश प्रेम, ४३
गरबा, १०६, १७५
ग़रीबों का गान, ६७
गर्ती गायक, ६५
'गाइने' गायक, १४६
गाय, १५४, गौओं का गोठ, १६६ गाय-यात्रा, १४५
गारी, ११६
गिद्धा-नृत्य, १३
गुजरात, ४०
गुजराती भाषा, २
गुजराती लोकगीत, १२, १००-१०६
गुप्तकाल, ३२, ३७
गुनसूर उदयगिरि, १८१
गुरुंग जाति, १४४, १४५
गेहूँ, १२३, १६५
गोकुलदास रायचुरा, ६८
गोरखाली (नेपाली) भाषा, १४४
गोरखा सैनिक, १२६
गोलकोण्डा, १७७
गौरिया चमारिन, ११४
ग्यारहवीं शती, १४५
ग्लेशियर, १४३
ग्वालों के गीत, १६५
ग्रामदेवता, ५

घीमी लौंदो' आलाप, १७१

चन्दन, ६०
चम्पा, १०४
चम्बा के पहाड़ी गीत, २१
चरखे के गीत, १७५
चरागाह, १३४

चाँदनी, ११५
चिरगांव, १०७
चीनी लोकगीत, ७
चुनरी, १०३
चूलू (जंगली फल), १६०
चैते गीत, १४८, चैत्र मास, १६५
चोली, १५५
चौखम्बा, १७५
चौदहवीं शती, १४५
चौफला गीत, १६२
चौमासा गीत, १६२

छिदविन नदी, ४८
छिरौना ग्राम, १०८

जन्मभूमि, १२, १४, २८, २६, ३२, ३३, ३४, ३६, ३७, १५१
जमुलिया बरेठन, १२२
जर्मन, ६३, ६४
जवाहरलाल नेहरू, १७४, १८५
जहाज़, १३६,
जहार, ६१
जागर गीत, १६२
जाट लोकगीत, ८२, ६७
जादू, (बांगरू), भाषा ८२
जापानी लोग, ५६
जुगनू, ६५, १५०, १८१
जुवारी गीत, १४६, १४७
जुरमाना, १२३
जेलखाने, १२२
जौ, १६५
जौनपुर, १४०
ज्योतिषी, १५७

झंझोटी गीत, १६
झयाउरे गीत, १४७
झुमैलो गीत, १६१, १६५
झुमैलो नृत्य, १६६
झुलनी, १७७

टीकमगढ़, १२२
टेसू, १६
ठाकुर रामसिंह, ७

ढोल, ६३
ढाक का पेड़, १६४, १३५

तकला, १७६
तराई, १४४, १४६
तलवार, १०६
तहसीलदार, ११२
ताजिक प्रजातन्त्र, २६, ३१
तानसेन, १७
तामिल, ७०, ७१; तामिलनाड, १७७
तामिल लोकगीत, १८३, १८४
तिब्बत, १४४, १५६
तिरहुत, ३३
तिलोत्तमा, ५८
त्रिनेत्र, १७६
त्रिशूल, १७५

थाबीटाकिन शहर, ४६

दर्पन, १५६
दशरथ, १३७
दहलीज़, १६५
दक्षिण समुद्र का मोती, १८५
दादरा, १११, १२२
दार्जिलिंग, ६१
द्वारकानाथ, १२४
दिवाली, ११८
दीपक राग, ७
दीपावली, १५५
दीपचन्द, ६२, ६४
दुतारा, १७१
दुर्गादास लाहिड़ी, १३०
दुर्गापूजा, १४७
दूब, १२८, १७२
देउसी गीत, १४७, १५८
देवप्रयाग, १७५
देश की याद (गीत), १६८

धनसिंह का गीत, ११६
धरती माता, १०, १४, ६४, १४६
धोती, १०३

ननद, १५५
नन्दलाल वसु, १५, ५७

नन्दादेवी, १७५
नन्हे धोबी, ११६, १२१
नरोत्तमदास स्वामी, ७
नरौना गाम, १०६
नवजात पुत्र, १३४
नहरांपुर, ८१
नानी फूल्यौने गीत, १४८
नारद, २८
नीम, ११४
नेपाल के गीत, ३३, १४७-५६; नेपालीगाम १४३, नेपाली लोकोक्तियां, १४६
नेवार जाति, १४४
नैहर, १५२, १५४
नौरता गीत, ११७

पंचवटी, १०५
पंजाबी लोकगीत, १३, २०, ३४, ३५, ३६, ४१, ४३, ७६, ७७, ७८, ७६, ११३, १२५, १७६
पंवारे गीत, ११७, १६१
पट गीत, १६२
पटवारी, ११२
पनिहारिन, १०५
पर्जन्य, १५
'पसर' का गीत, ११५
'पहाड़ी' गाम, ११०
पांडोरी गाम, ११४
पाटन नगर, १४४
पाणिनि, ३२
पार्वती, १०३; पार्वती का गीत, १६७
पालक की बाड़ी १६७
पालकी, १४१, १४२
पालना, १८२
पीगूयोमा, ४७
पीतल से लोहा, १७१
पीताम्बर, १५८
पीपल, ७८, ११६, १४६, १५८
पुरवा बहिन, २६
पुरातत्व, ५६
पुरानी ढेरी (टीकमगढ़), ११६
पुलिस की चौकियां, १२२
पृथवी सूक्त, ६, १२
पृथ्वीराज, ११०
पैगोडों के खंडहर, ४८
पोक्चू शहर, ४८
पोखरी गाँव का देवता, १६२
पौढ़ी नगर, १६३, १७५
पौराणिक युग ३०, ३१
प्रयाग, १४०

फाग, ११०, ११८
फ्रेज़र, १२

बंगाल, ४०, 'बांगालीर गान',बंगला कविता संग्रह (१६०५), १३०
बदख्शां, २६, ३१
बद्रीनाथ का गीत, १६६, १७५,
बधाई, ११७,
बनारसीदास चतुर्वेदी, ७
बनिया, १२३
बलराज साहनी, ७
बल्ख, २६, ३१
बलोचिस्तान, १०, ३१, १४१
बर्लिया, १३७
बांगर, ८१
बांसुरी, ५५, ६२, ६३, ६४, ७२
बाघ का शिकार, १५६
बाजरा, ८७
बाजूबन्द गीत, १६२, १७१, १७२
बाबा के गीत, ११६
बालुन गीत, १४७
बारामासे गीत, १४७, १६२, १७६
बाल्मीक, २८, ६८
बिदुली, ११५
बिबली रानी का गीत, १५७
बिलवारी, ११८
बीकानेर, २४, १८१
बुन्देली लोकगीत, १०, १२, १०८ १२३
बैल, १२३, १२५; बैल का कन्नड़ गीत,१२६, २६; बूढ़े बैल का गीत, ६५, ६६
बोहद गाम, ६०
बौद्ध भिक्षु, ७१
ब्रजमोहन वर्मा ७
ब्रह्मा, ५८

भंडारी राजपूत, १६७
भटियाल, १६
भरती-गान, ६६
भवभूति, ५६
भाँडेर गाम, ११४
भाटगाँव नगर, १४४
भाभो, ४६
भारत की फौज, १५६
भारतमाता, ४, ३२, १७६, १८५, १८६
भुना हुआ अनाज, १७०
भूपेन्द्रनाथ दत्त, ६०
भैंसो की भीड़, १६६
भैरव-यात्रा, १४५
भैलो गीत, १४७

मक्खन का चक्का, १७०
मगर जाति, १४४
मधु, १६०
मनमोहन घोष, ६०
मन्नू मरासी, ११२
'मल्लीगे दण्डे'(फूलों का गुच्छा, कन्नड़ लोक गीत-संग्रह), १२६
मल्हार, १६, १७
मलेथ गाम का गीत, १६६
मयूरी, १७२
महाभारत, २६, ३२
महाराष्ट्र, ४१
माइका नदी, ४७
मांगलगीत, १६१, १६५
माडर्न रिव्यू, १
माता देई (शीतला), ६०
मातृभूमि की कल्पना, १२, ३०
मायका, १४२, १७१
मालाबार, ४
मालिका, ४७
मजिश्रान बन्दरगाह, ४८
मूँगा का गीत, १७०
मेंहदी, ६६
मेघदूत १५
मेघाणी, २, १६, १०२
मेवासिन रानी का गीत, १७
मेजर ब्रुक, १४६
मेले, १४०, १४५, १७५
मैक्सिम गोर्की, १२५
मैथिली लोकगीत, १६
मैथिलीशरण गुप्त, १०७, १०८, १११,११२ ११३
मोतीचन्द्र, डा०, १०, ११, ३०, ३१, ३२
मोपक, ४६
मोहंजोदारो, ५६

यजुर्वेद, १५
यमुना, ३०, ३३, ३७

रणजीतराय मेहता, स्व०, ६८
रथ-यात्रा, १४५
रवीन्द्रनाथ ठाकुर, १५, ४७, ४८, ५६, ७० ७२, ७६
रसिया, ११४, १४७
रहीम, १४१
'रागनी' ६१
राजस्थानी लोकगीत, २२, २८, ३६, ३७ १००, १७६
राम, ३२, १०१, १०५, १३५
रामइकबाल सिंह 'राकेश' ७, १६, २०
रामकृष्ण शर्मा, ११३
रामनरेश त्रिपाठी, ७, १३५, १४०
रामसिंह,ठाकुर, ७
रामायण, २८, २६, ३२, ६८, १०३,
रावण, ६८, ६६, ७०, १०५
रावल 'गीत' ११२
रेल, १३६
'रोढ़ी घर' नृत्यशाला, १४५, १४६

लंहगा, ८५, १८२
लक्ष्मण, १०१, १०५
लगान, ११२, १२३
लहरों की कहानी, ६६
लाँगमा गीत, १४६
लास्य नृत्य, १७७
लिथुआनिया, ५६, ६०
लिम्बू जाति, १४४, १४६
लोक-मानस, १, ५, ५६, १७७, १८५
लोकवार्त्ता, २, ६, १६५

लोकसाहित्य, १४
लोरियां, १६१
ल्हासा, १२६

वृन्दावन, १०१, १०५
वट-वृक्ष ७४, ७६, ८०, १२८
वर्षा ऋतु, १५
वर्षा मंगल, १६
वसन्ती गीत, १६१, १६५
वाणासुर, १७७
वात्स्यायन (अज्ञेय), ७
वासुदेवशरण अग्रवाल, ७
विन्ध्याचल, २१
विरदावलियां, १६२
विशाल भारत, ३
विष्णुपुराण, ३०; विष्णु, ६७
वेरियार एलविन, ७, १२
व्रत के गीत, १७, ३४

शतपथब्राह्मण, १०, ३०
शान लोग, ४८
शान्तिनिकेतन का जन्मदिन ५७, ६१
शारंगधर, १७७
शाहजहां, ६६
शिकारी, १३१, शिकार १७१
शाह लतीफ, २१
शिकिम, १४४
शिमले की पहाड़ियां, १३७
शिव १०३, १२६, १६८
शिवदान सिंह चौहान, ७
शिकारी, १३१, १३८; शिकार, १७१
श्यामाचरण, दुबे, ७

संथाल, १५, ६०, ६१, संथाल लोकगीत, ५५ ५७, ६२, ६३, ६४
संस्कृत कवि, १३३
सदानन्द, ४७, ४८, ४६, ५०, ५३
सदेई का गीत, १६२, १६३
सरिहल रानी, ८६
सवाई गीत, १४७
सवाई दुलहन, ११४
ससुराल, १४२, १६५, १६, १६८
सांगर, ६४
सांगी, गायक ८३, ८४
सारंगी, ८४. १४६, १७१
सागर, ६५, ७०, ७३
साजन, ११७
सावन में बियाई हुई भैंस, १७०
सास, १२४
साहूकार, १७६
सिंहल (लंका), ३६, ६७, १४१; सिंहाली, ६ सिंहाली लोकगीत, ६८, ७२
सिपाही, १२६
सिन्दूर, १२१, १२२, १२५
सिन्धी लोक-संगीत, २१
सियारामशरण गुप्त, १०८, १११
सीता, १०५, १३५, १३७
सीप, १८५
सीमाप्रान्त, २६
सुनवार जाति, १४५
सुन्दरम्, ५६, ५७,
सूरा (उत्तरी हवा), २६, २७
सूर्यकरण पारीक, ७
सोने की धूपदानी, १६५; सोने से पीतल १७१
सोरटी नृत्य १४५; सोरटी गीत १४६
सोहरे, ११६, सोहर, १३३
सौराष्ट्र, १७७
स्टैन कौनो, १४५
स्वतन्त्र भारत, १७४
स्वराज्य, १७४

हंसली, १७६
हंसिया, १७३
हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, ७, ५८
हनुमान, ६८
हरियाना, ८१
हाव पारा गीत, १४६
हाथी, १५४
हाथीकुंड, १६१
हिंदुकुश, २६
हिमालय, २६, ३१, ३२, ३३, १४१, १४६
हिमाचल, १४३
हिरन, १३५, १३७; हिरन का गीत, १३७; हिरनी, १३१, १३५, १३७